सम्पादकीय निवेदन

पूज्य स्वामीजी की प्रस्तुतपुस्तक उनकी अत्यद्‌भुत सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रतिभा की एक झलक है। फिर भी हम जैसों के लिए इसका संपादन और प्रूफ-संशोधन करना भी टेढ़ीखीर हो रहा है। उसमें भी जिस त्वरा से, एक सप्ताह के भीतर इसे निकालना पड़ रहा है, वह भी विषय की गंभीरता को देखते हुए अभूतपूर्व है। केवल महाराजश्री की आज्ञा का पालनमात्र समझकर हम लोगों ने यह साहस किया है। अतएव इसमें त्रुटियों का न होना या कम होना भी आश्चर्य ही कहा जायगा। फिर भी हमें दृढ़ विश्वास है कि गुणैकपक्षपाती विद्वज्जन उन्हें हमारा ही प्रमाद मान सुधार लेने की कृपा करेंगे।

धर्मसंघ शिक्षामण्डल
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
चैत्रपूर्णिमा,
२०१६ विक्रमी

हरिहरनाथ त्रिपाठी
गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

अनुक्रम



|| श्रीहरिः ||

वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

वेदों की अपौरुषेयता :१:

इस व्यवहारभूमि संसार में रहनेवाले सभी प्राणियों को कुछ-न-कुछ व्यवहार करना ही पड़ता है। सभी व्यवहार अपने विषय-ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, अतः प्राणिमात्र को व्यवहार के लिए व्यावहारिक विषयों का ज्ञान अपेक्षित होता है। ज्ञान के लिए ही प्राणियों को प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यथार्थ (सत्य) ज्ञान के असाधारण कारण को 'प्रमाण' कहा जाता है। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ये 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहे जाते हैं।

यद्यपि कुछ लोग केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानते हैं, तथापि विज्ञजनों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि अनेक प्रमाण माने जाते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान तो ऐसे हैं कि जिन्हें बिना माने पशुओं का भी व्यवहार नहीं चल सकता। पुचकारते हुए, हाथ में हरी-हरी दूर्वाओं को लिये हुए पुरुष की ओर हितैषी समझकर पशु प्रवृत्त होता है और दण्ड को लिये डाँटते हुए पुरुष को देखकर पशु पलायन करने लगता है। ऐसे स्थल पर दण्ड में अनिष्ट-साधनता का ज्ञान अनुमान से ही हो सकता है। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा— "अयं दण्डः मदनिष्टकरः, दण्डत्वात्, पूर्वानुभूतदण्डवत्।"

इस तरह प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पशु भी व्यवहार करता है। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह शास्त्र से भी व्यवहार करता है। मनुष्य में भी दो पक्ष दिखाई देते हैं—शास्त्रनिष्ठ एवं तर्कनिष्ठ। शास्त्रनिष्ठ-शास्त्रों में श्रद्धा रखनेवाले तर्क को केवल व्यामोह

बतलाते हैं और तर्कनिष्ठ-शुद्ध तार्किक शास्त्र को ही व्यामोह बतलाते हैं। शास्त्रनिष्ठ तर्क को सर्वथा न मानते हों—ऐसी बात नहीं; किन्तु उनका कहना यही है कि शास्त्र स्वतःप्रमाण हैं। अनुकूल तर्क मिल जाने पर उसका बल और बढ़ जाता है। तर्क की अप्रतिष्ठा और व्यामोहकता तर्क से ही सिद्ध है। प्रत्यक्ष है कि किसी तार्किक ने बड़े प्रयत्न से किसी पदार्थ को सिद्ध किया। दूसरा तार्किक, जो पहले से कहीं प्रखर है, पहले तार्किक के तर्कों को तर्काभास सिद्ध कर देता है। तीसरा दूसरे के तर्क को भी तर्काभास सिद्ध कर देता है। अभियुक्तों का कहना है— "यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥" इस प्रकार कतिपय स्थलों में तर्कों की अप्रतिष्ठा और व्यामोहकता देखकर उन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है।

भले ही तर्कों की व्यामोहकता का तर्क भी अप्रतिष्ठित एवं व्यभिचारी हो, परन्तु तर्क पर पूरा विश्वास करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। तर्कनिष्ठों का यह मत है कि अनुकूल तर्क मिलने पर ही शास्त्र बलवान् है और शास्त्र की अनुकूलता होने पर तर्क की बलवत्ता बढ़ जाती है। दोनों ही मतों में बलवत्ता का कारण शेष-शेषिभाव (अङ्गाङ्गिभाव) ही है। जो शेषी है अर्थात् प्रधानतया स्वतन्त्र है, वह बलवान् है और जो शेष (गौण) है, वह निर्बल है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त दोनों पक्षों में कौन-सा पक्ष श्रेष्ठ है? प्रेक्षावान् (विचारक) सहज में ही समझ सकते हैं कि तर्क को अवश्य ही अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होती है। शास्त्र की स्थिति भिन्न है। शास्त्र को अपनी बलवत्ता के लिए भले ही तर्क की अपेक्षा हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेक्षा नहीं है। यदि ऐसा न हो, तो शास्त्र 'शास्त्र' ही नहीं रह सकेंगे। पुरुषों के

भेद से तर्कों का भेद होता है, परन्तु पुरुषों के भेद से 'शास्त्र' का भेद नहीं हो सकता। अन्यथा शास्त्र और तर्क दोनों एक ही हो जायँगे – या तो सभी विषय विवादग्रस्त होंगे या सभी निर्विवाद ही होंगे। अपने-अपने तर्क के अनुसार सभी तत्त्व-निर्णय में प्रवृत्त होंगे, फिर तो शिक्षामार्ग का उच्छेद ही हो जायगा। अतः तर्क-परायण के मत में पुरुषार्थसिद्धि असंभव है। इसके विपरीत शास्त्र-परायण पुरुष अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रोक्त सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर शास्त्रसिद्ध सभी पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकेगा।

तार्किक यहाँ बहुत शीघ्र ही तर्क करेगा कि क्या और कौन शास्त्र है, जिसके अनुसार चलने से फलसिद्धि निश्चित है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि शास्ता का सानुग्रह वचन ही शास्त्र है। शिष्य के, जिस पर शासन करना है, अनुग्रह के अनुकूल शासक (शास्ता) का वचन ही शास्त्र है। प्रजा के इहलोक तथा परलोक के अभ्युदय एवं परम कल्याण प्राप्त कराने में कारण और सहायक सर्वांश या तत्तद्विषयों के पूर्णरहस्यज्ञ हितैषियों के वचन ही शास्त्र हैं। यह परिभाषा यद्यपि सर्वमान्य-सी ही है; तथापि स्पष्ट निर्णय के लिए और भी प्रश्न उठते हैं कि कौन शासक है, जिसके सानुग्रह वचन को शास्त्र माना जाय? इसका उत्तर यह है कि जो विश्व का रचयिता है, वही विश्व का शासक है और वही विश्व के रहस्य को जाननेवाला विश्व पर अनुग्रह करता है। अतः उस सर्वज्ञ, विश्व-रचयिता के विश्वानुग्राहक वचन ही शास्त्र हैं। इसलिए शास्त्रपरायण की पुरुषार्थ-सिद्धि स्पष्ट ही है।

फिर प्रश्न होता है कि विश्व-रचयिता ही कौन है? इसका उत्तर है—जो कहता है "मैंने विश्व को रचा।" 'मैंने विश्व को रचा' जो यह कहता है, यदि वही विश्व-रचयिता है, तो फिर प्रश्न होता है कि ऐसा कौन है और वह कहाँ रहता है? कहा जा सकता

और भारतवर्ष में सम्यक् प्रख्यात है। 'ठीक है, वेद भारत में प्रख्यात तो अवश्य है, पर उसे मानता कौन है ?' यह तो ऐसी विचित्र बात है कि जिसे खोजते हैं, पर प्राप्त होने पर मानते नहीं। यहाँ यह शंका अवश्य उठती है कि जैसे वेद शास्त्र हैं, वैसे ही और भी तो बहुत-से भिन्न-भिन्न देशों, जातियों तथा सम्प्रदायों के शास्त्र हैं। फिर केवल वेद ही क्यों, सभी शास्त्रों को मानना चाहिए। लेकिन जब परस्पर विरुद्ध बातों का प्रतिपादन करनेवाले सभी देशों के शास्त्रों का प्रामाण्य मान लिया जाय, तब फिर तर्क को अवकाश ही कहाँ रह सकता है ? यदि कोई भी शास्त्र न माना जाय, तब भी लड़कपन हुआ, क्योंकि शास्त्र ढूँढ़ते तो हैं, परन्तु मिलने पर मानते नहीं। यदि वेद ही शास्त्र माना जाय, तब तो वहीं परमेश्वर का प्रतिपादक है और उसी वेद-प्रतिपादित परमेश्वर का वचन ही वेद-शास्त्र है। परमेश्वर अनादि है, अतः उसका प्रजानुग्राहक वेद-वचन शास्त्र भी अनादि है। इसमें अन्योन्याश्रय आदि दोष भी नहीं हैं।

अब रही यह बात कि भिन्न-भिन्न देशों तथा सम्प्रदायों के अवैदिक शास्त्रों का भी प्रामाण्य क्यों नहीं ? इसका समाधान यह है कि यदि वे शास्त्र अर्थात् सर्वशास्ता परमेश्वर के वचन हैं, तब निश्चय ही उनका प्रामाण्य होगा। भला शास्त्र के प्रामाण्य का अपोहन कौन कर सकता है ? सर्वस्रष्टा, सर्वशासक के वचन ही शास्त्र हैं। जो भी ऐसे वचन हैं, वे सभी प्रमाण हैं। यदि वे ऐसे नहीं हैं, तब तो उनका प्रामाण्य दुर्घट ही है। यद्यपि सभी देशों तथा सम्प्रदायों का अभिमान ऐसा ही है कि हमारा धर्म-ग्रंथ परमेश्वर का ही वाक्य है और परमेश्वर के ही किसी अधिकारी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। फिर भी थोड़ा-सा ही विवेचन करने पर विदित होता है कि जहाँ अधिकार की चर्चा न हो,

वह परमेश्वर-वचन कैसे कहा जा सकता है। अधिकारी के भेद से शास्त्रोपदेश में भेद होना चाहिए। एक ही कर्म या एक ही ज्ञान में सभी अधिकारी नहीं हो सकते। मनुष्यों और पशुओं में सर्वत्र ही योग्यता और अधिकार के भेद से कर्म के भेद देखे जाते हैं। अश्व, महिष, गौ, गर्दभ इन सभी के कर्मों में पार्थक्य देखा जाता है। भोजन, पान आदि तो पशु-साधारण ही कर्म हैं, परन्तु मनुष्यता के कर्म और मनुष्यों में भी विशिष्ट-विशिष्ट समाजों की विशेषता के मूलभूत कर्म एवं ज्ञान कुछ और ही होते हैं। शास्त्रच्युत लोगों का जिसमें अधिकार हो, उसे शास्त्र कैसे कहा जा सकता है? जहाँ दूसरों को बलात्कार या छद्म से दूसरे शास्त्रों या धर्मों से हटाकर अपने शास्त्रों या मतों में मिला लेना धर्म बतलाया गया हो, वह शास्त्र कैसे कहा जा सकता है? इन तथाकथित शास्त्रों एवं तदनुयायियों में एक-दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करके किसी तरह लोगों को फँसाना ही अपना लक्ष्य रहता है। अपने शास्त्रों और मतों में सभी यही कहते हैं कि हमारा ही मार्ग परलोक या परमात्म-प्राप्ति का निर्विघ्न मार्ग है, अन्य मार्गों में बड़ी ही विघ्न-बाधाएँ हैं।

उनके अनुसार कोई किसी देश, किसी मत, किसी जाति का क्यों न हो, इन मतों और शास्त्रों में सभीका प्रवेश हो सकता है। जो भी कोई इन मतों में प्रवेश करने को तैयार हो, उसे उसी क्षण इनके यहाँ स्वीकृति मिल जाती है। अधिकार-अनधिकार की चर्चा तो इनके यहाँ है ही नहीं, किन्तु वैदिकों में तो अधिकार की पदे-पदे चर्चा देखी जाती है। ब्राह्मण के वाज-पेय आदि कर्म क्षत्रिय के लिए अग्राह्य हैं और क्षत्रिय के राजसूय आदि कर्मों में ब्राह्मणों का अधिकार नहीं। यज्ञ-अन-धिकारी के कानों में भी वेद-शब्द नहीं पड़ना चाहिए—ऐसा

वैदिकों का आदेश है। फिर किसीको बलात्कार या छद्म से अपने सम्प्रदाय में मिलाना कैसे संभव है ? यह वैदिकता परमेश्वर-प्रदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि द्विजाति वेदाधिकारियों से भिन्न कोई किसी भी तरह भी 'द्विजाति' या वेदाधिकारी नहीं बनाया जा सकता। शैव भरसक वैष्णवों को शैव बना लेते हैं, वैष्णव भी भरसक शैवों को वैष्णव बना लेते हैं। अतः यहाँ भी शैवत्व और वैष्णवत्व मनुष्य के अधीन है, परन्तु वैदिकता या द्विजातित्व किसी भी प्रकार मनुष्य के अधीन नहीं हो सकते। वैदिक धर्म में ब्राह्मण क्षत्रिय या क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। फिर वेदबाह्य ब्राह्मणादि बन जायँ और वैदिक हो जायँ, इसकी तो चर्चा ही क्या ? अतः जैसे पशुता, मनुष्यता परमेश्वर-प्रदत्त हैं, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवद्दत्त ही हैं। हाँ, वेद और वेदानुयायी शास्त्रों ने द्विजातियों, एकजातियों (शूद्रों) तथा मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ जिन उपायों तथा धर्मों का उपदेश किया है, उन्हें अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जानकर चलने पर मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। यही वेदों की उदारता है। अधिकार-अनधिकार का विवेचन न करके सबका सर्वत्र अधिकार मानना उदारता नहीं, अपितु उच्छृङ्खलता का पोषण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सबका अधिकार होता है। इसलिए वेद यदि परमेश्वर-निर्मित है, तब तो उसमें सभीका समानाधिकार होना चाहिए। यदि वेद में सबका अधिकार नहीं है, तब तो वेद शास्ता का वचन कैसे हो सकता है ? यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिकार मान्य है, तब तो वे ही शास्ता के वचन समझे जाने चाहिए। परन्तु यह

कथन असंगत है। यदि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सभीका समान अधिकार हो, तो फिर संसार में दाय-भाग का विचार ही उठ जाना चाहिए। तब तो हर स्त्री हरएक की पत्नी और हर पुरुष हरएक स्त्री का पति हो सकता है। 'परस्वापहरण' नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी। जब सभी में सबका सत्त्व है, फिर या तो सभी परस्वापहारी हों या सभी उस दोष से रहित ही समझे जायँ। परमेश्वर-निर्मित भी मुक्ताफल में क्या काक अधिकारी हो सकता है? इसलिए अधिकार-चर्चा मिटाना उच्छृङ्खलता का ही पोषक है। विश्व-शास्ता के वेद-वचन, श्रोता-वक्ता के जो धर्म बतलाते हैं; उन धर्मों का उल्लंघन करने से दोनों को ही दण्ड मिलना अनिवार्य है। अतः वेदों में अधिकार की चर्चा उनकी शास्त्रता अर्थात् शास्ता के वचन होने का मूल है।

लौकिक-पारलौकिक कर्म, धर्म; कार्य, कारण एवं कार्य-कारणातीत परम-तत्त्व इन सबका निर्णायक होने से भी वेद ही शास्त्र है। इन विषयों का इतना स्पष्ट और सुन्दर विवेचन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इनका गाम्भीर्य भी अन्य ग्रन्थों से अनुपमेय है। साथ ही वर्तमान संसार में प्रचलित धर्मों और तत्सम्बन्धी सभी ग्रन्थों से प्राचीन होने के कारण भी वेद ही शास्ता के वचन हैं। सभी ग्रन्थों के देश, काल तथा कर्ता का निर्णय उनके अनुयायियों द्वारा ही सिद्ध है। परन्तु वेदों के निर्माण का देश-काल तथा कर्ता कथमपि निर्णीत नहीं है। वेदों की अपौरुषेयता तथा प्रमाणता मिटाने के लिए अटकलपच्चू प्रमाणों से उनके देश-काल तथा कर्ता के निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है, इसका उद्देश्य भारत की प्राचीन संस्कृति के अभिमान को ठेस पहुँचाना हो। सच तो यह है कि वादी-प्रतिवादी-सम्मत प्रत्यक्ष या अनुमान कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिल

सकता, जिससे वेद-निर्माण का देश-काल तथा कर्ता विदित हो सके। अतः स्पष्ट है कि अनादि विश्व के अनादि शासक भगवान् का विश्वानुग्राहक वचन ही वेद-शास्त्र है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर की न्यायकारिता और दयालुता ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि चार-पाँच हजार वर्ष पहले के जीवों के लिए परमेश्वर ने कोई कल्याण-मार्ग बतलाया ही नहीं, जिससे उसकी विषमता तथा अचतुरता प्रकट होती है।

'ऐसा भी कोई समय था, जब वैदिक-सम्प्रदाय प्रचलित न था' इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि वेदों में जिन नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के नाम आते हैं, कम-से-कम उन सभीकी उत्पत्ति के पहले वेदों का न होना स्पष्ट ही है। लोक में किसी भी ग्रंथ का निर्माण उसमें आनेवाली घटना के पीछे ही समझा जाता है। व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद ही उसका उल्लेख होता है। अन्वेषकों के पास ऐसे अनेक उपाय हैं, जिनसे नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के समय का अनुमान किया जा सकता है। शिलालेख, ताम्रपत्र, भूगर्भ-विज्ञान आदि सभी साधनों से उक्त विषयों के ज्ञान में सहायता मिलती है। समुद्र की प्रतिवार्षिक क्षारता-वृद्धि के मान से गणित द्वारा उसकी आयु का पता लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक साधनों द्वारा नदियों एवं पृथिवी तक की आयु का निर्णय किया जा चुका है। फिर सावयव पदार्थ अनित्य होते हैं—यह तो सभीको मान्य है। इस तरह भी वेदों में जिन सावयव पदार्थों का वर्णन है, उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही वेद का निर्माण मानना चाहिए। लोक में यह प्रसिद्ध ही है कि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर ही उसका नामकरण होता है। अतः चाहे समय-विशेष का निर्धारण

न भी हो, तथापि वेद की अनादिता तो किसी तरह सिद्ध ही नहीं होती।

किन्तु इन सभी शंकाओं का एकमात्र कारण है, वेद और सृष्टि के संबंध एवं वेदार्थ-निर्णय के सिद्धांतों के प्रति अज्ञान। वेदों में घटना एवं इतिहास के अन्वेषण के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उनमें घटनाओं का अनुसरण नहीं किया गया है, अपितु किसी अंश में घटनाचक्र ही वेद का अनुसरण करते हैं। प्रपञ्च की सृष्टि ही वेदशब्दों के आधार पर होती है— "वेदशब्देभ्यः एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।" "अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि स्मृति तथा सूत्रों से वेदों की नित्यता और उन्हींसे प्रपञ्च की उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट दिखायी देता है।

वस्तुतः किसी भी कार्य के निर्माण में निर्माता को उसके ज्ञान की अपेक्षा होती है। घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण करनेवालों को अवश्य ही उन पदार्थों तथा उनकी सामग्रियों का ज्ञान अपेक्षित होता है। यहाँ तक कि प्रथम अपने मन में निर्मित घट आदि को ही बाह्य सामग्रियों के द्वारा बाहर व्यक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि समस्त प्रपञ्च-निर्माता को प्रपञ्च-निर्माण के पहले उसका ज्ञान अवश्य होगा, क्योंकि बिना उसके निर्माण संभव ही नहीं। इसके साथ ही इतना और समझ लेना चाहिए कि ज्ञान के लिए सूक्ष्म शब्द आवश्यक है। शिष्टों की यह प्रतिज्ञा है कि कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं, जो शब्द के अनुवेध से रहित हो—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।" अतः जब प्रपञ्च-निर्माण के पूर्व निर्माता को प्रपञ्च-ज्ञान होना आवश्यक है, तो ज्ञान के साथ सर्वप्रपञ्चबोधक शब्दों का भी होना अनिवार्य है। इस तरह सर्वस्रष्टा भगवान् के सर्वनिर्माण का मूलभूत सर्वविज्ञान अवश्य ही सर्वबोधक शब्दों के साथ

ही रहा होगा। इस तरह अनायास ही सर्वज्ञ भगवान् के सर्वज्ञान के साथ अनुविद्ध शब्दरूप वेदों की अनादिता एवं उनकी सृष्टि-हेतुता सिद्ध होती है।

भगवान् व्यास ने भी अपने "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस सूत्र में स्पष्ट किया है। जब यह सिद्ध हो गया कि वेदशब्दों से ही परमात्मा ने विश्व का निर्माण किया, तब तो समस्त विश्वनिर्माण के भी प्रथम वेदों का अस्तित्व सिद्ध होता है। फिर इस कथन का अवकाश कहाँ रहता है कि अमुक नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के पश्चात् वेदों का निर्माण हुआ। प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि अनादि वेदों में वर्णित आख्यायिकाएँ तथा व्यक्ति चाहे किसी भी देश-काल में हों या न हों, वेद अनादि ही हैं। वे घटनाओं की अपेक्षा से नहीं बनाये गये। आख्यायिकाओं का तात्पर्य केवल किसी सिद्धान्त को सरलता से समझाने में ही है। जैसे लोक में किसी गणित या अन्य विषय को समझाने के लिए कल्पित आख्यायिका का आश्रयण किया जाता है, वहाँ उस आख्यायिका की सचाई या देश-काल की अपेक्षा नहीं होती, ठीक वैसे ही किसी सिद्धान्त को समझाने के लिए वेद भी कल्पित आख्यायिका का आश्रयण करते हैं। उनका तात्पर्य केवल सिद्धांतों को अवगत कराने में ही है। आख्यायिका की सत्यता या उसके देश-काल के निर्णय में कथमपि तात्पर्य नहीं है। शाब्दिकों का यह एक सिद्धांत है कि शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ माना जाता है—"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" लोक में भी यह स्पष्ट है। शत्रुगृह में भोजन के लिए बालक के पूछने पर माता कहती है—"विषं भुङ्क्ष्व" अर्थात् विष खा लो। यदि इस वाक्य का तात्पर्य विष खाने में हो, तब तो विष खाना इस वाक्य का अर्थ हो सकता है। परन्तु माता पुत्र के लिए विष खाने की आज्ञा

कैसे दे सकती है, यह भी एक सोचने की बात है। अतः शत्रुगृह में भोजन-निवृत्ति में ही इस वाक्य का तात्पर्य है "विषभक्षणसदृशं शत्रुगृहभोजनम्" अर्थात् विषभक्षण और शत्रुगृह-भोजन समान हैं। उक्त वाक्य का वस्तुतः यही तात्पर्य है।

इसीलिए मीमांसकों ने स्पष्ट कह दिया कि समस्त वेदराशि का, जिसे 'आम्नाय' नाम से पुकारा जाता है, तात्पर्य केवल क्रिया ही में है। जो वचन क्रियार्थक नहीं हैं, वे सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होंगे। अतएव मंत्रों का तात्पर्य क्रियाङ्ग द्रव्य तथा देवता के स्मरण कराने में है। अर्थवादों तथा आख्यायिकाओं का किसी विधि या निषेध की स्तुति या निन्दा में ही तात्पर्य है। यही "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् । तस्मादनित्यमुच्यते" "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इन सूत्रों में दिखलाया गया है। आख्यायिका-वाक्य एवं अर्थवाद-वाक्य अवान्तर वाक्य हैं। ये विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके ही सार्थक होते हैं। विधि-वाक्य ही महावाक्य होते हैं। अवान्तर वाक्यार्थ यदि महावाक्यार्थ से विरुद्ध होते हों, तो अमान्य एवं अप्रामाणिक होते हैं। जैसे, "न सुरां पिबेत्" (सुरा-पान नहीं करना चाहिए) इस वाक्य का अंश है—"सुरां पिबेत्।" इसका अर्थ है–'सुरा-पान करे।' परन्तु इस अर्थ का पूरे वाक्यार्थसे विरोध है, अतः यह अर्थ अमान्य है। हाँ, यदि अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ का विरोधी न हो, तब उस वाक्य का स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य हो सकता है। अतएव उत्तरमीमांसकों ने मन्त्र, अर्थवाद, आख्यायिकाओं के विषय में सब जगह के लिए यह निर्णय कर दिया है कि यदि इन सबका अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध न हो, तभी ये मान्य हो सकते हैं। अन्यथा उन्हें गौणार्थ ही समझना चाहिए। इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

वेद-रहस्यज्ञों की दृष्टि में वैदिक आख्यायिकाओं तथा नगर, नदी एवं व्यक्तियों के उल्लेख से वेद के देश-काल-निर्णय की आशा केवल दुराशामात्र है। जब प्रमाण से उनके देश-काल तथा कर्ता का निर्णय नहीं होता और अनादि, अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा से उनका अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, तब उनकी अनादिता तथा अपौरुषेयता स्वाभाविक है।

वेदों से उनके देश, काल तथा कर्ता का निर्णय किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वेद अमान्य तथा अप्रमाणभूत हैं, तब तो उनके द्वारा ज्ञात होनेवाले देश-काल तथा कर्ता भी अप्रामाणिक ही होंगे। परन्तु यदि वे प्रमाण मान्य हैं, तब तो उनसे ही उनकी नित्यता एवं परमेश्वर-निःश्वासरूपता भी सिद्ध है। फिर भी दोनों का समन्वय करके ही किसी अर्थ का निर्णय करना उचित होगा। अनादि परमात्मा के प्राण तथा विज्ञानभूत वेदों को सादि कहना किसी भी तरह संगत नहीं। अतः उनका केवल प्रादुर्भाव ही कहना पड़ेगा। कहीं-कहीं कुछ महामति यह भी कहने लगे हैं कि 'नित्यता का प्रतिपादन करने-वाला वचन अप्रमाण और उत्पत्ति तथा कर्ता बतलानेवाले वाक्य प्रमाण हैं।' परन्तु यह कथन निर्मूल है। हेतु-विशेष के बिना इस 'अर्धजरतीय न्याय' की सभ्य समाज में मान्यता नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि यह तर्क-सम्मत है, इसलिए मान्य है, तो उत्तर यही है कि यदि तर्क से वेदों का कर्ता या देश-काल निर्धारित हो जाय, तब तो पहले उसीको उपस्थापित करना चाहिए। फिर उस वेद को, जिसका प्रामाण्य विवादग्रस्त है, उपस्थापित करने की आवश्यकता ही क्या है?

कुछ लोग भाषा-भेद से वेद के कुछ अंश को अर्वाचीन कहने का साहस करते हैं। यह भी बे-सिर-पैर की बात है। विषय-भेद,

रुचि-भेद से जब एक ही पौरुषेय ग्रन्थ में वैचित्र्य हो सकता है, तब अपौरुषेय वेद के स्वाभाविक वैचित्र्य पर पर्यनुयोग (आपत्ति) कौन खड़ा कर सकता है ? इसी तरह 'पूर्व और दक्षिण के देशों तथा नदियों के नाम जिन अंशों में आये हैं, वे अर्वाचीन हैं।" यह कहना भी बेतुका और निराधार है। कारण यह है कि जब यह मान लिया जाय कि 'बाहर से आकर आर्य सिंधु-तट पर टिके और वहीं वेदों का निर्माण हुआ, उसके बहुत दिनों पीछे पूर्व की ओर बढ़े', तब तो उक्त कथन का कोई आधार हो सकता है। परन्तु जब इस उपस्थापना का ही कोई आधार नहीं है, तब सारी बात निरर्थक है।

एक यह भी मत है कि 'किसी समय कुछ लोगों ने वेदों की रचना कर उन्हें अपौरुषेय सिद्ध करने की दृष्टि से उनमें देश, काल तथा कर्ता का उल्लेख नहीं किया। उसके प्रचार के लिए खूब त्याग एवं तपस्या की गयी। वे ही ऋषि, ब्राह्मण तथा पुरोहित कहे जाते हैं, परन्तु इन महामतियों से कोई पूछे कि यह स्थापना साधार है या यों ही ? यदि यों ही है, तब तो उसके विपरीत दूसरी कल्पना भी यों ही की जा सकती है। यदि वह स्थापना साधार है, सप्रमाण है, तो उस आधार और प्रमाण का उल्लेख होना चाहिए। फिर इस प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि ऐसे वेद-रचयिताओं की ऐसी प्रवृत्ति किस उद्देश्य से हुई ? यदि पूजा-लाभ या ख्याति के प्रयोजन से, तो जब उन्होंने वेदों के निर्माता रूप से अपना नाम तक न रखा, उनकी अनादिता ही सिद्ध की, तब और किसी लाभ की कल्पना हो ही कैसे सकती है ? घोर तपस्या, सर्वस्व-त्याग, एकान्तवास, निरन्तर प्रजा-हित-चिन्तन—क्या ये सब बिना किसी लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन के केवल कुतूहल-वशात् कभी बन सकते हैं ? बुद्धिमानों को वेदोक्त धर्म-कर्मों में तथा वेदों में जो सम्मान है, उससे भी वेद और वेदोक्त कर्मों

की अनादि परम्परा ही समझी जा सकती है। जब एक भी प्रज्ञा-वान् दुःख-निदान या निष्फल कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब भला इतना बड़ा जगत् कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा, ख्याति आदि ही वेद और धर्म मानने का एकमात्र लक्ष्य है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आखिर लाभ आदि ही कैसे होंगे ? धर्म-कर्म का अनुष्ठान, वेदाध्ययन ये सब स्वरूपतः लाभकर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यदि धर्मानुष्ठान में प्रत्यक्ष लाभ हो, तब तो नास्तिकों को भी करना चाहिए, पुनः विवाद ही किससे ? एक बात और भी है कि जिससे लाभ आदि होता है और जो धार्मिकों का दान, सम्मान आदि से पूजन करेंगे, वे ही ऐसा क्यों करते हैं ? यदि यह कहा जाय कि 'ख्याति और अपने में प्राणियों का अनुराग पैदा करने के लिए' और इसमें यह कारण बताया जाय कि 'दान, सम्मान करनेवालों में जनों का राग होता है तथा जनानुराग से नैतिक, आर्थिक सभी प्रकार की सम्पत्ति मिल जाती है', तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का सम्मान, दान अपने व्यवहारानुकूल सचिवों को ही दिया जा सकता है। अरण्यवासी तपस्वियों के लिए ऐसे दान आदि से कुछ भी प्रयोजन सम्पन्न नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ये जितने वैदिक तपस्वी थे, वे सभी केवल दूसरों को छलने के लिए ही तप आदि करते थे।' परन्तु उनका यह कथन व्यर्थ है, कारण कि किसी लौकिक प्रयोजन से ही तो किसीकी प्रतारणा की जाती है। जो अत्यंत निःस्पृह हैं, प्रच्छन्नरूप से भी प्राप्त द्रव्यों की ओर देखते तक नहीं और सदा तप करके कष्ट सहते हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे ? यदि कहा जाय कि तप, दान, यज्ञ आदि में सुख होता है, तो फिर

नास्तिकों को भी वह सब करना चाहिए। कभी यह भी कहा जाता है कि 'वृद्धों ने ही प्रतारणा कर बालकों को बाल्यकाल से ही वेद और वैदिक कर्मों के प्रति श्रद्धा तथा संस्कार पैदा कर दिये; इसीसे बालकों की भी उनमें प्रवृत्ति हो गयी।' यदि ऐसा ही है, तो फिर वृद्धों की वेदादिकों में उसी तरह श्रद्धा और प्रवृत्ति क्यों देखी जाती है? प्रतारणा करनेवाले दूसरों को ही ठगते हैं, अपनेको तो नहीं। इस पर यदि कहा जाय कि 'इन वृद्धों की भी प्रवृत्ति उनसे के पूर्व के वृद्धों की प्रतारणा से हुई है' तो उन वृद्धों पर भी यही संदेह किया जा सकता है। यदि इस परम्परा को अनादि कहें, तब तो फिर कोई भी प्रतारक सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रतारणा की शङ्का स्थिर हो।

यदि कहा जाय कि कोई एक धूर्त अपने-आप ही तीव्र त्याग, तपस्या आदि करके दूसरों को उसमें प्रवृत्त कराता है" तो यहाँ भी समझना चाहिए कि यह ऐसा कौन लोकोत्तर प्रतारक है, जो सर्वस्व देकर, बन्धु-बान्धव आदि को त्यागकर, संसार-सुख से विमुख होकर, ब्रह्मचर्य, तपस्या एवं श्रद्धा से केवल दूसरों की वञ्चना के लिए अपना समस्त जीवन बिताता है? फिर, इस एक का ही बुद्धिमान् लोग अनुगमन भी कैसे करते? दूसरी एक बात यह भी है कि 'इस प्रतारक का ज्ञान भी लोगों को किन चिह्नों से हुआ?' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'प्रतारण में ही ऐसा सुख होता है' जिसके सामने तप, त्याग आदि का दुःख कुछ भी नहीं है, क्योंकि खर्चीले एवं श्रमसाध्य कार्यों में पाखण्डियों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

वैदिक आचार का ग्रहण, धारण, अनुष्ठान पाखण्डियों के लिए असम्भव है। मतान्तर का ग्रहण प्राणी आलस्य से कर सकता है। वेदों में दुःखमय कठिन कर्मों की प्रधानता है, अतः

यहाँ आलसियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता 'कि बिना अधिकार के दूसरे मतों से हटाकर इस मत में प्रवेश कराया जाता है' क्योंकि यहाँ अधिकार का नियम बहुत ही कठोर है। भोजन-पान के राग से भी इस मत में सञ्चार नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कठोर संयम, कठोर विभाग राग के स्पष्ट ही बाधक हैं। 'कुशिक्षा तथा कुतर्क के अभ्यास से दूसरे मत में प्रवृत्ति होती है' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाल्यावस्था से ही बालकों की वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्ति होती है। यह उन्हें पितृ-पितामह आदि की परम्परा से ही प्राप्त है। इसके विपरीत बातें अन्यान्य मतों में ही लागू होती हैं। कर्मकाण्ड की कमी तथा आचार-विचार का विशेष नियम न होने से उनमें आलसियों की प्रवृत्ति हो सकती है। वैदिक धर्म से पतितों का भी उनमें प्रवेश हो जाता है। इसलिए भी उधर प्रवृत्ति संभव है। पाद-प्रक्षालन, स्नान, भोजन, पान, वस्त्रधारण जैसी छोटी-से-छोटी बातों के लिए भी जहाँ कठिन नियम बने हैं, वहाँ रागियों की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है? उन्हें तो उसी मत में आनंद आता है, जिसमें कोई परम्परागत बन्धन नहीं होते; जिसमें भोजन, पान, स्त्रियों आदि के संबंध में मनमानी स्वतंत्रता रहती है।

मनु, वाल्मीकि, कृष्ण, व्यास, पतञ्जलि, गौतम, कणाद प्रभृति महादार्शनिकों ने भी वेद-शास्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य माना है। रह तर्क की बात, वह तो केवल संभावनामात्र है। संभावनामात्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणान्तर की सम्मति से तर्क का प्रामाण्य माना जाय, तो फिर जिस प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेक्षित है, वही प्रमाण हुआ, फिर उस तर्क का कोई प्रामाण्य ही न रहा। यदि यह कहा

जाय कि जब तक तर्क का किसी प्रमाण से बाध न हो जाय, तब तक वह भी प्रमाण ही है, तो वह भी संगत नहीं। तर्क के बाध की भी संभावना बनी ही रहेगी। बात यह है कि बाध-भय का मिटना प्रमाणान्तर के ही अधीन है। अतः कहना ही पड़ेगा कि तर्क अङ्ग या अप्रधान तथा शास्त्र अङ्गी या प्रधान है। शास्त्र स्वतःप्रमाण है, शास्त्रमूलक तर्क भी उसके अनुग्रह से ही प्रमाण हो सकता है, वह स्वतःप्रमाण कभी नहीं है। यदि शास्त्र तर्कमूलक हो, तब तो प्रमाणान्तर-सापेक्ष होने से उसे भी तर्क ही समझना चाहिए। तर्कशास्त्र तर्क ही समझा जाता है, वह वेद-शास्त्र आदि की तरह स्वतःप्रमाण नहीं माना जाता।

वर्तमान सभ्यता के लोगों का कहना है कि 'शास्त्रों में से समझ बूझकर अच्छी-अच्छी बातें माननी चाहिए। आँख मूँदकर शास्त्र की सभी बातें मान्य हों—ऐसी बात नहीं।' परन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्र तर्कसम्मत, युक्तियुक्त, सुन्दर एवं उपादेय बात कहते हैं, इसलिए आदरणीय हैं। अतः इस पक्ष में तर्क से भिन्न शास्त्र नाम के प्रमाण का कोई स्थान नहीं रह जाता। वेद-शास्त्र भी केवल ग्रंथरूप में लिखित तर्क ही हुआ।

इसके विपरीत वैदिकों का कहना यह है कि ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय एवं तदनुकूल धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों के विषय में उनकी सुन्दरता और उपादेयता इसीलिए है कि वे वेद-शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। प्रतिपाद्य की सुन्दरता एवं उपादेयता से प्रतिपादक वेद-शास्त्रों की प्रामाणिकता और उपादेयता नहीं, बल्कि प्रतिपादक वेद-शास्त्रों के प्रामाण्य से ही प्रतिपाद्य की सुन्दरता तथा उपादेयता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस प्रमाण

से वेद-शास्त्रप्रतिपाद्य धर्म, ब्रह्म आदि तत्त्वों का अस्तित्व तथा उनकी सुन्दरता एवं उपादेयता का बोध हुआ, उन्हीं प्रमाणों से निर्वाह हो सकता है, फिर शास्त्र को प्रमाण मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियों से यदि शब्द का बोध हो जाय, तब तो श्रोत्र की आवश्यकता ही क्या रही? अतः चक्षु आदि से अज्ञात शब्द के ज्ञानार्थ ही श्रोत्र की मान्यता होती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अज्ञात धर्म, ब्रह्म आदि के ज्ञान के लिए ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता होती है। यदि उनका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से हो जाय, तब शास्त्र को प्रमाण मानना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि से विज्ञात अर्थ को प्रतिपादित करनेवाले "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इस शास्त्रांश को अनुवादक समझकर स्वार्थ में प्रमाण नहीं माना जाता। गोत्र, धर्म तथा अनेक अतीत तत्त्व ऐसे हो सकते हैं, जहाँ वचन या लेख के अतिरिक्त कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता, इसीलिए श्रोत्र आदि की तरह शास्त्र स्वतंत्र प्रमाण माना जाता है।

अतएव बौद्धों के यहाँ यद्यपि तर्कसम्बन्धी अनेक ग्रंथ हैं, तथापि वे तर्क ही समझे जाते हैं। यही कारण है कि बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माननेवाले कहे जाते हैं। पाश्चात्य विकासवादियों को भी शास्त्र के सम्बन्ध में आंशिक ही मान्यता है, क्योंकि उनके अनुसार वेदों का प्रादुर्भाव पूर्ण विकास की अवस्था में नहीं हुआ। जब पूर्ण विकास होगा, तभी कोई सर्वज्ञ हो सकेगा और तभी जो शास्त्र बनेगा, वही सर्वथा सबके लिए मान्य हो सकेगा।

सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उनका मत अपने यहाँ के मत से

सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि 'सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। दूरवीक्षण-यन्त्र द्वारा देखा गया है कि विद्युत्कण एवं तेजोमय द्रव्य आकाश में स्थान-स्थान पर एक केन्द्र की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इनकी गति बड़ी तीव्र होती है। खगोलशास्त्रियों का कहना है कि इनके एकत्र हो जाने से सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों का निर्माण हुआ है। पहले गले हुए पत्थर की तरह कोई खौलता हुआ द्रव्य था। समय पाकर उसके जमने से चट्टानें बनीं और वायुमण्डल शीतल होने पर बाष्प-बादलों में परिणत हो गया। इस तरह धरातल पर प्रथम वर्षा आरम्भ हुई। चट्टानें कट-कट-कर धीरे-धीरे मिट्टी बनने लगीं और उसमें घास-फूस उगने लगे। पहले पहल जल में जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जलजन्तुओं से पक्षी और उनसे स्तनपान करनेवाले पशु बने। बन्दरों में मनुष्यका आकार-प्रकार आने लगा। उससे बनमानुष हुए, जिनकी सन्तान मनुष्य हैं। बहुत दिनों तक वह जङ्गली रहा, धीरे-धीरे सभ्यता के चिन्ह आने लगे और अब उसकी पूर्ण रूप से उन्नति हुई है।' इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न देशों का इतिहास लिखा है। उनके द्वारा लिखा गया भारतवर्ष का इतिहास भी ऐसा ही है। उनके मतानुसार 'पहले यहाँ भी असभ्य, जंगली बसते थे। फिर आर्यों का आगमन हुआ, जो पहले पञ्जाब में आकर बसे। वहीं जब वे सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ रहे थे, तब वेदों की रचना हुई।'

प्रश्न तो यह है कि विकास-सिद्धान्त किस लिए और किनके लिए प्रचारित किया जाता है? अतीत काल के लोग तो व्यतीत ही हो चुके और भविष्य के लोग वर्तमान के लोगों की अपेक्षा अधिक विज्ञान-सम्पन्न होंगे। फिर उन लोगों के लिए इस सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता ही क्या है? इसके सिवा भविष्य में होने-

वालों की दृष्टि में भूतकाल के शास्त्र अपूर्ण ही होंगे। वस्तुतः सर्वाधार, सर्वप्रकाशक, सर्वप्रेरक, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द, परम-तत्त्व के बिना किसी प्रकार का विकास एवं उसका क्रम सम्भव नहीं हो सकता। अतः 'सर्वज्ञ, सर्वेश्वर के नित्यविज्ञानभूत वेद अपूर्ण हैं।' यह कथन असंगत ही है। विकास-क्रम के अनुसार यदि बन्दर ही मानव जाति के पूर्वज हैं, तो क्या बन्दरों का ही क्रमिक स्वरूप मनुष्य है या भिन्न-भिन्न जन्तु जन्मान्तरों में मनुष्य बनते हैं? इनमें से द्वितीय पक्ष तो वैदिकों को भी मान्य है। परन्तु 'एक ही देह से बन्दर मनुष्य बनें या बन्दरों की ही वंश-परंपरा से कुछ काल में मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ हो।' यह बात योग-शक्ति के बिना असम्भव है। यदि बन्दरों की ही परम्परा में मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ, तो फिर बन्दरों की परम्परा क्यों अवशिष्ट है?

ज्ञान-क्रियाशक्ति के विकास से विकास-सिद्धांत की कल्पना निर्मूल है। कारण यह है कि न जाने कितने काल ही से मधुमक्षिकाओं को मधु बनाना आता है भिन्न-भिन्न पुष्पों के कटु, अम्ल, तिम्ल आदि अनेक रसों में से केवल मधुर रस का ही संग्रह करना कितनी बड़ी बात है! सूक्ष्म से सूक्ष्म वालुकाओं के बीच से शर्करा-कणों के निकालने की चींटी की विचित्र शक्ति भी विशेषतः उल्लेखनीय है। जब से पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से उनके बाह्य एवं आंतर रूपों तथा अवयवों में ऐसी विचित्रता है कि उनकी बराबरी आजतक मानव ने जितने यंत्रों का निर्माण किया है, वे नहीं कर सकते। वायु एवं जल का प्रभाव प्रत्येक अवयव पर किस तरह पड़ता है? मुख द्वारा गृहीत अन्न या जल जाठर अग्नि में परिपक्व होकर नानाविध रसों तथा धातुओं के रूप में परिणत होकर किस प्रकार भिन्न-भिन्न

अवयवों में विभक्त होता है ? मन एवं प्राण जैसी सूक्ष्म वस्तुओं का इतना सुन्दर परिणाम कैसे होता है ? तृण, दूर्वा आदि का गौ के उदर में जाकर स्तनों से दूध आदि के क्रम से क्या-क्या परिमाण अनुभव में आते हैं ? योनि में निषिक्त वीर्य का ही मनुष्य पशु आदि रूपों में परिमाण कितने चमत्कार की बात है ? अनेक प्रकार के रसों का संवहन करनेवाली नाड़ियों तथा नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि के परिमाण भी कितनी विलक्षणता से युक्त हैं ? क्या बिना सर्वनिर्माता, अचिन्त्य-शक्ति परमेश्वर का अस्तित्व माने इसे केवल आकस्मिक विकाश-मात्र मान लेने से काम चल सकेगा ?

फिर उसमें से चेतनता का भी विकाश कैसे हुआ ? यदि यह भूतों का गुण है, तो जैसे समस्त वस्तुओं का स्वभाव प्रयोग से निश्चित किया जाता है, वैसे ही यह जबतक प्रयोग से सफल न हो, तबतक कैसे मान्य हो सकता है ? भूतों के ही संप्रयोग से चैतन्य-प्रादुर्भाव कर लिया जाय, तभी चैतन्य भूत-धर्म है—यह बात मानी जा सकती है। 'भूतों के रहने पर ही चैतन्य रहता है' इतने मात्र से चैतन्य-भूतधर्म नहीं कहा जा सकता। काष्ठ आदि पार्थिव या जलीय पदार्थों के संसर्ग से अग्नि में दाहकता और प्रकाशकता की अभिव्यक्ति होती है, तथापि दाहकता और प्रकाशकता काष्ठ आदि का धर्म नहीं समझा जाता। इसी तरह यद्यपि देह में ही चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है, तथापि देह का धर्म नहीं है। अन्वय (साहचर्य) मात्र देखकर दो वस्तुओं के बीच धर्मधर्मिभाव का निर्माण नहीं किया जा सकता, जबतक कि 'व्यतिरेक' भी न मिले। आकाश का अन्वय या साहचर्य घट आदि के साथ है, तथापि आकाश एवं घट का धर्मधर्मिभाव नहीं कहा जा सकता।

कारण स्पष्ट है, भला कहीं आकाश के भी अभाव की कल्पना हो सकती है ? यही कारण है कि आकाश से घट की व्यतिरेक-व्याप्ति नहीं बनती। इसी प्रकार यद्यपि देह के रहने पर ही चैतन्य का उपलम्भ होता है और उसके न रहने पर नहीं होता, परन्तु देह के न रहने पर जो चैतन्य का अनुपलम्भ है, वह चैतन्य के न रहने से है अथवा चैतन्य के रहने पर ही अभिव्यञ्जक के अभाव से चैतन्य की अनभिव्यक्तिमात्र है ? किसी भी वस्तु के उपलब्ध न होने में स्वयं उसी का अभाव या उसके अभिव्यञ्जक का अभाव ये ही दो कारण होते हैं। गोत्व आदि जातियाँ यद्यपि नित्य एवं व्यापक हैं, तथापि गो-व्यक्ति के न रहने पर विद्यमान गोत्व की भी (व्यक्तिरूप अभि-व्यञ्जक के न रहने से) अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव उसका उपलम्भ भी नहीं होता।

इसी तरह अनन्त सत्तत्त्व के रहते हुए भी अभिव्यञ्जक घट आदि के न रहने मात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार नित्यात्म चैतन्य के विद्यमान रहते हुए भी अभि-व्यञ्जकरूप समुचित देहादि-संघात के न रहने से उसकी अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती। अतएव स्वप्न में प्रबोधकालिक देह के न रहने पर भी किसी काल्पनिक मानव या व्याघ्रादि संबंधी अन्य शरीरों द्वारा नाना प्रकार के व्यवहार होते हैं। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि चैतन्य भूतधर्म नहीं है। किन्तु जैसे गृह आदि संघात से भिन्न उसका भोक्ता स्वामी होता है, वैसे ही देहादि से भिन्न नित्य, चेतनात्मा देह, इन्द्रिय, मन आदि साधनों से शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है और किसी सर्वज्ञ, निर्विकार, चैतन्य परमेश्वर के ही नियन्त्रण में रहकर उसकी नियति के अनुसार कर्मों के ही फलरूपमें विविध वैचित्र्य

से समन्वित देह आदि को प्राप्त करता है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं की विचित्रता चाहे सूर्य आदि के या पृथिवी के परिभ्रमण से हो, सर्वत्र ही नियमित प्रवृत्ति के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की अपेक्षा रहेगी ही।

फिर, पाश्चात्य विद्वान् यदि ऐसा लिखें, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उन्होंने हमारे यहाँ के वेद-शास्त्रों का मर्म या रहस्य समझा नहीं है और न वे समझ ही सकते हैं। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि हमारे यहाँ के आधुनिक वेदाचार्य भी उन्हींके स्वर में स्वर मिलाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की एक बात में अवश्य प्रशंसा करनी पड़ती है। जिस बात के आगे उनकी बुद्धि नहीं जाती, वे स्पष्ट कह देते हैं कि इसके आगे क्या है, हम नहीं बता सकते। उनका मार्ग अन्वेषण का मार्ग है। आज वे एक बात कहते हैं, कल उसी-का खण्डन करने में उन्हें किञ्चित् भी संकोच नहीं होता। पृथिवी लगभग दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। इसपर एक विद्वान् लिखते हैं कि 'बहुत संभव है, वह इसके पहले भी रही हो, परन्तु हमारी होश उड़ाने के लिए, हमें सदा हत-बुद्धि करने के लिए तो यही संख्या आवश्यकता से अधिक है।' कुछ दिन पहले सबसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु माना जाता था, किन्तु अब उससे भी बढ़कर विद्युत्कण निकल आया है। इसके भी आगे कुछ पदार्थ बतलाया जाता है। तात्पर्य यह कि विज्ञान अभी अंधकार में टटोल रहा है। अपने यंत्रों द्वारा वह कभी पृथिवी के किसी स्थूल रहस्य की झलक पा जाता है और उसीके आधार पर अपने सिद्धान्तों की भित्ति खड़ी कर देता है। यदि वह अंतिम तह पर, जहाँ सूक्ष्मजंतुओं की कौन कहे, कुशाग्र से कुशाग्र बुद्धि की भी गति नहीं है, पहुँचने में असमर्थ

है, तो इसमें उसका दोष भी नहीं है; क्योंकि यह उसकी शक्ति से परे हैं। किन्तु तमाशा तो यह है कि हम अपने यहाँ के धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान को उसी अनिश्चित विज्ञान की दुम में बाँधने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे यहाँ के एक वेदाचार्य लिखते हैं कि 'हमारे पूर्वज पहले अत्यंत असभ्य थे, नग्न रहते थे। पशुओं तथा मनुष्यों का कच्चा मांस खाते थे। लड़ना-भिड़ना ही उनका काम था। पशु ही इनके गुरु थे। उन्हींसे इन्होंने गुह्याच्छादन सीखा। ये पशुचर्म ओढ़ते थे और गदहों की सवारी करते थे। आगे चलकर संघटन तथा प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना हुई। सभ्यता का विकास हुआ और ब्राह्मण आदि भेद नियत हुए। यज्ञ-विद्या (केमेस्ट्री) का आविष्कार हुआ। ये लोग अनीश्वरवादी तथा नास्तिक थे। इनका अभिमान था कि हम विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि बना सकते हैं। विज्ञान से ही विज्ञान का विस्तार हुआ। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इस मंत्र में यही बात कही गयी है। आगे उनमें स्पर्धा हुई और सद्वाद, असद्वाद आदि दस मत चल पड़े। फिर उन में से तुषित जाति से उत्पन्न एक महापुरुष ने उन वादों का खण्डनकर 'ईश्वरवाद' की स्थापना की। यह तुषित जाति शूद्र थी, जिसका उस समय वही महत्त्व था, जो कि आज दक्षिण भारत में शूद्रों का है। इस जाति में उत्पन्न वही महा-पुरुष ब्रह्म को जानने के कारण 'ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही स्वयंभू भी कहा गया और उसी ने वेदों का निर्माण किया।'

इस विकाशवादी इतिहास में अपने यहाँ के युगों की कल्पना तो हवा हो गयी। इसके अनुसार पहले तो तमोयुग था, कलियुग था। उस हिसाब से अब सतयुग होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि यदि यही सिद्धान्त मान्य है, तब फिर वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता तथा नित्यता कहाँ रही ? यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि आखिर वेद हैं क्या ? कुछ लोग ईश्वरीय ज्ञान को ही वेद बतलाते हैं। किन्तु यह ईश्वरीय ज्ञान यदि प्रसिद्ध ऋग्वेद आदि से भिन्न है, तो कौन सा है ? यदि वह अप्रत्यक्ष है, तो वह हम लोगों के किस काम का है और उसकी मान्यता का भी क्या अर्थ रहा ? कुछ लोग ज्ञान को ही वेद कहते हैं। किन्तु साधारण ज्ञान से तो समस्त संसार के ही व्यवहार होते हैं। इसमें भी वेद और उसकी मान्यता का कोई प्रश्न नहीं होता। यदि यथार्थ ज्ञान को वेद कहा जाय, तो यथार्थ ज्ञान है कौन और वह उत्पन्न कैसे होता है ? इसी प्रसंग में तो वेदप्रामाण्य पर विचार चल रहा है। कुछ अर्वाचीनों की राय में 'विद् सत्तायाम्', 'विद्, ज्ञाने' और 'विद् लाभे' इन तीन धातुओं से वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। इसलिए सत्ता, ज्ञान एवं रस को ही वेद कहना चाहिए। उनका कहना है कि ये ही तीनों पदार्थ सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं। अतएव वेदत्रयी से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। इनके सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन, अर्वाचीन, दार्शनिकों ने आचार्य-परंपरा से जिस वेद-राशि को वेद मान रखा है, वेदतत्त्व उससे पृथक् ही हैं।

वे ही वेदाचार्य लिखते हैं—'हम आश्चर्यचकित होकर देख रहे हैं कि हिमालय से कन्याकुमारीपर्यन्त, अटक से कटक तक के सभी विद्वान् उपलब्ध ऋग्वेद आदि ग्रंथों को वेद समझ रहे हैं। यही शब्द-संग्रह उनकी विशाल दृष्टि में वेदपदार्थ हैं। उनकी दृष्टि में पुस्तकों में उपलब्ध शब्दात्मक मन्त्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई भी वेद पदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपादान बन सकता हो।'

आपके मत में 'ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व के बिना किसी तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "अनन्त वै वेदाः" का रहस्य है। "विद्यते, वेत्ति, विदन्ति" इन व्युत्पत्तियों के अनुसार सत्ता, चेतना और आनन्द ही वेदशब्द से सूचित होते हैं। सत्तोपलब्धि ऋक्, चेतनोपलब्धि यजुः और आनन्दोपलब्धि साम हैं[1]।

आपकी राय में प्रसिद्ध वेद में उपपत्ति (विज्ञान)-प्रधान वचन ही श्रुति या वेद है। यही परम प्रमाण है। विधायक-निषेधक वेद-भाग तो वेद या श्रुति नहीं, प्रत्युत धर्म-पुस्तक या स्मृति है। इसलिए विधि-प्रतिषेधात्मक 'अहरहः संध्यामुपासीत' इत्यादि वचन स्मृति के ठहरते हैं। उपपत्ति-प्रधान वाक्यों का संग्रह विद्या-पुस्तक है, यही वेद-शास्त्र कहलाता है। "वेद-शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्" इस मनु के वेद-शास्त्र से विज्ञान-शास्त्र ही अभिप्रेत है। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः प्रमाणं परमं श्रुतिः" इत्यादि स्थानों में श्रुति शब्द से उपपत्ति वाक्य विज्ञान-शास्त्र ही गृहीत[2] है।

'धर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। कार्य-अकार्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं' इत्यादि वचनों से विदित होता है कि शब्द-राशि ही शास्त्र है। 'वेदशब्देभ्य एवादौ" "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्" "शास्त्रयोनित्वात्" "इत्यादि श्रुति-सूत्रों से भी आचार्य-परम्परा से अधीयमान शब्द-राशि को ही वेद कहा जाता है। 'आपस्तम्ब' भी मन्त्र और ब्राह्मण को ही वेद कहते हैं--"मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। उदयनाचार्य आदि शिष्ट पुरुषों ने भी वेद का यही लक्षण किया है। "अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजन-

---

१. वेदाचार्य पं० मोतिलालजी, ईशावास्य, प्रथम खण्ड, पृ० १३६-१३७।
२. वेदाचार्य पं० मोतीलालजी, ईशावास्य, प्रथम खण्ड, १३७-३६।

परिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्।" अर्थात् जिसका मूल कोई दूसरा प्रमाण न मिलता हो और जो शिष्ट-परिगृहीत हो, वही वाक्य-समूह वेद है।

अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों द्वारा जिसका अर्थ अवगत हो, जिसके पढ़ने से पारलौकिक सुख उत्पन्न हो एवं जो जीवों से बना हुआ न तो, वह प्रमाणरूप शब्दराशि ही वेद है। प्रत्यक्ष आदि सिद्ध अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद आदि का भी परम तात्पर्य विध्यर्थ की स्तुति में ही है। अतः विधि-वाक्य बिना उनका यह अर्थ अवगत नहीं हो सकता—

"शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीवि प्रमाणातिरिक्तञ्च यत्प्रमाणं तज्जन्य-प्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुख-जनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो य प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्।"

यदि आदित्य वेद हों या सत्, चित् एवं रस वेद हों, तो उनका प्रमाणकोटि में प्रवेश कैसे हो सकता है; क्योंकि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा जा सकता है। अन्यथा अपरिगणित प्रमाण हो जाते हैं। वैसे तो उपासना के लिए शब्द एवं अर्थ का अभेद-सिद्धान्त मान्य है। आदित्यादि में त्रयी-दृष्टि भी उपासना के लिए संगत है। जैसे योषित में अग्नि-बुद्धि, पृथिवी में ऋक्-बुद्धि, अग्नि में साम-बुद्धि की जाती है, वैसे ही वाक्, प्राण में भी ऋक्-साम की बुद्धि उपासनार्थ मान्य है।

यदि प्रमाणभूत ऋक् आदि शब्द-राशि से भिन्न चाहे जो कुछ भी हो, वह वेद है, तो फिर प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध न होनेवाले धर्म, ब्रह्म तथा नाना प्रकार के पदार्थ किंवा आदित्य आदि का वेद होना भी किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है? जिन

शब्द-राशियों के आधार पर इन सब बातों को सिद्ध किया जाता है, उनका ही प्रामाण्य क्यों और कैसे होगा ? क्या वे तर्क-शास्त्र की तरह युक्ति सिद्ध अर्थप्रतिपादन करते हैं ? यदि यह मान्य है, तो याग-विशेष एवं फलविशेष का कार्य-कारणभाव किस युक्ति से सिद्ध होगा ? पुरुष-निर्मित ग्रन्थों में भ्रम, प्रमाद आदि दूषणों से दूषित होने की शंका रहती ही है। फिर जब उसमें वेद-निर्माताओं के विषय में अनेक प्रकार के विवाद हों, तब तो कहना ही क्या ? वेदों का कोई भी कर्ता नहीं है, वे अपौरुषेय हैं। कोई हिरण्यगर्भ, कोई प्रजापति, कोई भिन्न-भिन्न ऋषियों, कोई गड़ेरियों, तो कोई भाण्ड, धूर्त एवं निशाचरों को ही वेदों का निर्माता बतलाते हैं। जिनका कोई विश्वस्त और आप्त कर्ता निर्णीत नहीं हो पाता, उन वेदों का प्रामाण्य कोई भी बुद्धिमान् कैसे मानेगा ? फिर उनके आधार पर किन्हीं भी तत्त्वों और सिद्धान्तों का व्यवस्थापन तर्कसम्मत कैसे हो सकेगा ?

'वेदापौरुषेयत्वाधिकरण' में महर्षि जैमिनि ने 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या, अनित्यदर्शनाच्च, उक्तं तु शब्दपूर्वकत्वम्, आख्याः प्रवचनात्" इत्यादि सूत्रों में आचार्यपरम्परा से अधीयमान शब्दराशि को ही वेद मानकर उनकी अपौरुषेयता सिद्ध की है। "तच्चोदकेषु मंत्राख्याः शेषे ब्राह्मणशब्दः" इत्यादि स्थलों में प्रमाणभूत शब्द विशेष राशि को ही वेद कहा गया है। महाभारत आदि के समान वाक्य होने के कारण भी वेदों की पौरुषेयता का संदेह किया जाता है। 'काठक' आदि समाख्या से भी वेदों का कठ आदि ऋषियों से बनाया जाना मानना पड़ता है। प्रवचन तो अनेक पुरुषों से होता है, अतः प्रवचन-संबंध से 'काठक' आदि संज्ञा नहीं हो सकती। इन कारणों से वेदों की अपौरुषेयता पर संदेहकर समाधान किया गया है कि यदि वेदों का कोई कर्ता होता,

तो अध्येताओं की परम्परा से बुद्ध आदि के समान अवश्य ही उसका स्मरण होता। उसी विश्वास से सभी लोग वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करते, क्योंकि अन्य किसी प्रमाण से स्वर्ग और अग्निहोत्र आदि का कार्य-कारणभाव निश्चित ही नहीं हो सकता। यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो अर्वाचीन लोग उसे किसी भी तरह न भूलते। इस तरह स्मृति योग्य होते हुए भी स्मरण न होने से शशविषाण आदि की भाँति वेदों का कर्ता अत्यन्त असत् है।

जो लोग वेदों की पौरुषेयता मानते हैं, वे भी परम्परा से कर्ता का स्मरण नहीं करते। किन्तु वाक्यत्व-हेतु से 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान द्वारा कर्ता का अनुमानकर स्वाभिमत कर्ता सिद्ध कर लेते हैं। 'अमुक कर्ता है' इस प्रकार परम्परा से कर्ता का स्मरण नहीं होता। यदि मनु आदि के समान वेदों का कर्ता स्मृतिपथ में आता, तो 'कौन कर्ता है' यह विवाद ही नहीं उठता। मनुस्मृति, महाभारत या शाक्य-ग्रन्थों में विशिष्ट कर्ता के विषय में विवाद नहीं होता।

वेदाध्ययन आचार्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओं ने अध्ययन किया है. वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। कोई भी वेदों का स्वतन्त्र और पहला अध्येता नहीं है। कोई भी वेदों का कर्ता निश्चित नहीं है। प्रत्युत वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है। इस तरह वेदों की ही शाश्वता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदैशिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी देशविशेष की भाषा में नहीं हैं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही उनका वेद भी सर्वसाधारण की भाषा में ही है। अन्यान्य धर्मग्रंथ भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में हैं। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आर्यों की मातृभाषा संस्कृत में ही हैं। फिर वे भी सार्वदैशिक कैसे हो सकते हैं? किन्तु यह कहना संगत नहीं है;

क्योंकि संस्कृत भाषा देव-भाषा है, वह मानुषी भाषा नहीं है। इसीलिए वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में संस्कृता वाक् का मानुषी वाक् से पृथक् उल्लेख है। श्रीहनुमान्‌जी सोचते हैं कि मुझे अवश्य ही मानुषी वाक् बोलनी चाहिए, दूसरी तरह से महाभागा श्रीजानकीजी को समझाया ही नहीं जा सकता। यदि मैं ब्राह्मण की तरह संस्कृत वाणी बोलूँगा, तो सीतामाता रावण समझकर मुझसे भी भयभीत होंगी—

"अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥"

द्विजातियों की भी भाषा संस्कृत नहीं है, वह देवभाषा ही है। ब्राह्मण इसलिए संस्कृत वाणी बोलते थे कि उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करते करते वैसा अभ्यास पड़ जाता था। इसीलिए नैषध में लिखा है कि भिन्न-भिन्न देश के राजाओं के संस्कृत भाषा बोलने के कारण देवताओं की पहचान नहीं हुई 'सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि।" इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृतवाणी में भी नहीं हैं। इसीलिए शब्दों के लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार के संस्कार होते हैं। लौकिक संस्कार लोक तथा वेद दोनों में ही बराबर हैं। वे व्याकरण आदि सूत्रों के अनुसार ही होते हैं। इसीलिए शाब्दिकों का कहना है—"छन्दसि दृष्टानुविधिः" अर्थात् छन्द में दृष्ट लक्ष्य के अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरण में वैदिक-प्रक्रिया भिन्न है, अतः वहाँ लक्ष्य का ही प्राधान्य है, संस्कार का नहीं।

वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्यों का स्वरूप और अर्थ निरुक्त और

प्रातिशाख्य से नियमित हैं; संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेद-भाषा संस्कृत भाषा से विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ अधिक तुल्यता मिल जाय। इसलिए वेद किसीके पक्षपाती नहीं हैं।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं; वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है। किन्तु पूर्वकथनानुसार अधिकार-विशेष का निर्णय उसका असाधारण गुण है। जैसे कोई औषधि किसीके लिए हितकर तो किसी—के लिए अहितकर होती है; किन्हीं औषधों का किन्हीं यन्त्रों तथा पात्रों में सुपरिणाम और उन्हींका दूसरे यन्त्रों तथा दूसरे पात्रों में दुष्परिणाम होता है, वैसे ही विचित्र-शक्तिसम्पन्न उन वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मों का कहीं सुपरिणाम तो कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। इसी स्थिति के आधार पर वेदों के उच्चारण, श्रवण और अग्निहोत्र आदि कर्मों में शुद्ध द्विजातियों को ही अधिकार है। अशौचग्रस्तों, पतितों तथा व्रात्य त्रैवर्णिकों का उक्त कर्मों में अधिकार नहीं है। अधिकार-विवेचन में पक्षपात-शून्य हो केवल हितकामना से ही ये नियम हैं। राजसूय में केवल क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण-वैश्य का नहीं। ऐसे ही वैश्य-स्तोम में केवल वैश्यों का ही अधिकार है। इसी तरह किसी-में रथकार का, तो किसीमें स्थपति का ही अधिकार है। ब्राह्मण के लिए मद्य-बिन्दुके पान से ही मरणान्त प्रायश्चित्त है, औरों को वैसा नहीं। ब्राह्मण को सर्वत्याग, क्षत्रियों को साम्राज्य, और गृहस्थों को द्रव्य-दान में पूर्ण स्वधर्म, है तो सर्वमान्य संन्यासी को द्रव्य-दान में पाप। स्व-धर्म से विमुख ब्राह्मण को भी नरक और स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यज को भी दिव्य-लोक की प्राप्ति, यह सब

वस्तुस्थिति का अनुसरणमात्र है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, किन्तु मिश्री दे देती है, तो क्या वहाँ द्वेष है?

कहा जा सकता है कि 'श्रवण आदि में अनधिकारियों के लिए वेद उनका श्रवण आदि के माध्यम से उपकार न करता हुआ विषम व्यवहार करता है।' पर यह सुचिन्तित कथन नहीं है, क्योंकि धनुष आदि धारण करने में असमर्थों के लिए धनुष-धारण का निषेध और कटु औषधों से भीरु लोगों के लिए उन औषधों का निषेध विषमता का मूल नहीं होता। इसी तरह अनधिकारियों के लिए भी निषेध अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार हो जाता है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। किन्तु जैसे जड़, अंध, नपुंसक, बधिर, उन्मत्त, मूक आदि लोगों में श्रवण आदि की लौकिक सामर्थ्य नहीं होती, वैसे ही अलौकिक-सामर्थ्य भी सबमें नहीं रहती। यह अलौकिक सामर्थ्य एकमात्र शास्त्र से ही गम्य है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-परिज्ञान, शम, दम आदि मानव के सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल, भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्य-मात्र का अधिकार है और उसीके द्वारा परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मों से मनुष्य की तो कौन कहे, गृध्र, बन्दर, भालू तक की परम सद्गति हुई और होती है—"पाइ न केहि गति पतित-पावन, राम भज सुनु शठ मना।" अतः यह स्पष्ट है कि देश-जाति-पक्षपातशून्य होकर वह मंगल-मय विभु और उसका वेद सभीका कल्याण करनेवाला है।

इस तरह अनेक प्रकार से वेद-शास्त्र ही सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुग्राहक वचन होने से मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य एवं सार्वभौम गीता जैसे ग्रन्थों में भी वेद ही शास्त्ररूप से मान्य हैं।

सिद्धान्तानुसारी शास्त्र कौन हैं, इसका निर्णय सहज में ही हो जाता है। शास्त्र के संबंध में गीता ने वेदों के अतिरिक्त और किसीकी भी चर्चा नहीं की है। यथा—"ऋक्-साम-यजुरेव च", "वेदानां सामवेदोऽस्मि", "त्रैगुण्यविषया वेदाः", "नाहं वेदैर्न तपसा", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" इन वचनों में वेदों की ही चर्चा है। गीता में आनेवाले ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि महापुरुष भी वैदिक ही थे। गीता के उपदेष्टा और श्रोता के चरित्रों पर ध्यान दें, तो वैदिक आचार-व्यवहार ही लक्षित होता है। गीता जिस महाभारत का सर्वस्व है, उसे देखने से भी वेद और वैदिक-सभ्यता की ही प्रशंसा मिलती है। भारत और गीता के निर्माता भगवान् व्यास भी वेदों और वैदिक-सभ्यता के ही पालक और पोषक प्रतीत होते हैं। इन सहज विवेचनों से स्पष्ट होता है कि वेद और वेद से अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग है। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरुद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म ये सभी सन्मार्ग हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति का शास्त्रकथित या शास्त्राविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उनकी हलचलों को शास्त्रीय शृंखला में नियन्त्रितकर शास्त्राविरुद्ध मार्ग से अपने उपादेय की ओर अग्रसर होनेवाले सभी वर्ण और आश्रम के लोग ही साधु हैं। साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। आचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद ने यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ सन्मार्गस्थ बतलाया है। अतः सन्मार्ग पर जो कोई भी स्थित है, वही साधु है। निर्दोष, सत्य, सुन्दर एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग

है। अतएव भगवान् ने कर्तव्य एवं अकर्तव्य को जानने के लिए शास्त्र का ही आश्रयण करना बतलाया है।

शास्त्र क्या है, इस विषय में नवीन व्याख्याताओं का सिद्धान्त यही है कि 'भिन्न-भिन्न देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाज या समाज के सञ्चालक पुरुषों द्वारा बनाये गये नियम ही शास्त्र हैं। इस शास्त्रविधि का पालन ही व्यष्टि, समष्टिरूप सम्पूर्ण जगत् के संरक्षण का मूल है।' गीता को सार्वभौम ग्रंथ बनाने के लिए व्यग्र कुछ आधुनिक लोग गीतोक्त 'शास्त्र' का भी यही अर्थ करते हैं। उनकी दृष्टि में 'भारत के हिन्दुओं में ही नहीं, प्रत्युत कुछ परिगणित लोगों में प्रचलित वेद ही गीतोक्त शास्त्र हैं। किन्तु ऐसा कहना गीता की महत्ता घटाना और उसे संकीर्ण बनाना है। वे लोग यह नहीं समझते कि जो सिद्धान्त बहुतों में प्रचलित हो, वही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं समझा जा सकता। संसार में जितना देहात्मवाद प्रचलित है, उतना देह-भिन्न जीव, परमेश्वर तथा धर्म-सम्बन्धी वादों का प्रचार न कभी हुआ और न हो सकता है। फिर क्या सार्वभौममात्र होने से ही देहात्मवाद को महत्त्वपूर्ण वाद मान लिया जाय? धर्म, ईश्वर को मानना और उसके लिए प्रयत्न करना बहुत ही कम लोगों में देखा जाता है। फिर क्या संकीर्णता के भय से इन सत्य तत्त्वों का भी अपलाप किया जा सकता है? काल-क्रम से सात्त्विक, राजस, तामस सभी भावों का संकोच-विकास होता ही रहता है। इसी प्रकार वैदिक-भावनाओं एवं मान्यताओं का आज संकोच हो जाने पर भी कभी विश्व के सभी, भगवान् एवं उनके सन्मार्ग की जिज्ञासा रखनेवालों का विकास रहा और फिर भी रहेगा।

शास्त्र की उपर्युक्त आधुनिक परिभाषा यद्यपि आपाततः व्यापक और रमणीय प्रतीत होती है, तथापि थोड़ी-सी गम्भीरता

के साथ विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई मनुष्य या उनका समूह, जो सर्वदर्शी नहीं है, लौकिक कर्तव्यों के उसे निर्णय में भी जब हिमालय जैसी गलती कर सकता है, तो फिर लोक-परलोक तथा उनके साधन लौकिक-अलौकिक अनेक उपायों का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष यह कि अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अधिकारानुसार श्रौत-स्मार्त एवं तदविरुद्ध मार्ग पर चलनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी - अधिक क्या, संसार के सभी स्त्री-पुरुष साधु हैं। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग पर आरूढ़ रहनेवाले इन साधुओं की रक्षा करने के लिए ही भगवान् का अवतार है। दुष्कृतियों का विनाश और धर्म-संस्थापन भी इन्हींके परित्राण में उपयुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी वेद ही गीता-सम्मत शास्त्र ठहरता है।

'तर्क अप्रधान तथा शास्त्र प्रधान है, यह कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं हो सकता। सर्वसाधारण को तो कोई शास्त्रप्रणेता परमेश्वर उपलब्ध नहीं होता"—यह कहना कोई आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि जैसे लोक-संस्कार न होने से प्राणी लौकिक वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही शास्त्र-संस्कार न होने पर वह शास्त्रीय वस्तु को भी देख नहीं सकता। जैसे दिव्यांजन द्वारा सुसंस्कृत चक्षुवाले पुरुष को भूगर्भ में छिपे हुए रत्न आदि का विज्ञान होता है, वैसे ही शास्त्रसंस्कारवाले ही शास्त्रीय वस्तु को निर्विवाद देख सकते हैं।

ईश्वर, जीव, जगत्, धर्म एवं तत्त्व—इन पाँच विषयों का जहाँ सम्यक् निरूपण हो, वही शास्त्र है। अथवा 'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' जिससे हित का उपदेश हो, वही शास्त्र

है। वैसे तो अर्थ, काम आदि का उपदेश भी हितोपदेश है; अतएव अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि भी प्रख्यात ही हैं। किन्तु हित वस्तुतः धर्म और ब्रह्म ही है। अतः धर्म, ब्रह्म तथा तदुपयुक्त पदार्थों का सम्यक् निर्णय जहाँ हो, वही शास्त्र है। विवेकियों में ही शास्त्र का आदर एवं पालन होता है। अविवेकियों में तो अपने-अपने मनोरथों के अनुसार भिन्न-भिन्न तर्कों का ही सम्मान है। पूर्वोक्त पाँचों विषयों में से अपनी इच्छा के अनुसार किसीका ऊह किया जाता है, तो किसीका त्याग। इसी कारण तार्किकों में मतभेद भी है। 'सुन्दोपसुन्दन्याय'[1] से परस्पर व्याघात होने के कारण दोनों का ही खण्डन हो जाता है।

कुछ लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि 'हम तो शास्त्र-फास्त्र कुछ नहीं मानते।' किन्तु क्या वे लोग सर्वज्ञ होकर ऐसा कहते हैं अथवा असर्वज्ञ होकर ? प्रथम पक्ष तो ऐसे लोगों के लिए, जिनकी बुद्धि का कुछ ठिकाना नहीं, सर्वथा असम्भव है। द्वितीय-पक्ष में भी छिछलापन बहुत स्पष्ट है। 'सर्वशास्ता का वचन नहीं मानेंगे' ऐसा कहनेवाला सिवा बालक के और कौन देखा गया है ? जिस देश में या जिसके वचन में शास्त्रत्व-निर्णय है, उसमें बुद्धिमानों की अवश्य ही श्रद्धा है। केवल किसी एक के न मानने से क्या हो सकता है ? यद्यपि कहा जा सकता है कि 'अकेले ही नहीं, किन्तु बहुत-से ऐसे हैं, जो शास्त्र को नहीं मानते। अतः जैसे शास्त्र माननेवालों का पक्ष है, वैसे ही

---

१. सुन्द एवं उपसुन्द नाम के दो अत्यन्त प्रबल दैत्य थे। एक रूपवती स्त्री पर दोनों आसक्त होकर आपस में ही कट मरे, यही सुन्दोपसुन्द न्याय है।

शास्त्र न माननेवालों का भी एक पक्ष है।' किन्तु क्या बहुमत से ही किसी अर्थ की सिद्धि हो जाती है? अभियुक्तों का तो कहना है कि एक भी वेद-रहस्यज्ञ जिसे धर्म बतलाता है, वही धर्म है; दशसहस्र अज्ञों का कथन भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता—

"एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्धि कर्हिचित्।
स धर्म इति विज्ञेयो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥"

जैसे सहस्रों अन्धों का मूल्य बाह्य वस्तु के कथन और स्वरूपनिर्देश की दृष्टि से एक चक्षुष्मान् के भी बराबर नहीं है, वही स्थिति धर्माधर्म के विषय में सहस्रों अज्ञों की है। प्रमाणनिरपेक्ष कथन जैसे एक का है, वैसे ही सहस्रों का भी। इसलिए जो स्वयं असर्वज्ञ हैं और शास्त्रों को नहीं मानते, उनका कोई पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि पक्षान्तर होने में असर्वज्ञता ही प्रतिबन्धक है। लोक में बहुमत के ढकोसले में सिवा प्रतारणा के और कुछ नहीं है। सदा ही, सर्वत्र कुछ इने-गिने व्यक्तियों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रभाव से बहुमत बनाया जाता है। इसलिए बहुमत की कोई निष्ठा नहीं। लाठी लेकर हाँकनेवाले के पीछे भेंड़ और भैंस के समान, जन-समूह किसी भी प्रभावशाली व्यक्ति के पीछे चल पड़ता है। जो सिद्धान्त आज बहुमत से मान्य है, वही कल अमान्य भी हो जाता है। आज का बहुमत कबतक स्थिर रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न देशों में जिन कतिपय व्यक्तियों का साथ देकर जन-समूह ने उनका बल बढ़ाया और विजय करायी, अन्य प्रभावशाली नेताओं को पाकर उसी जनसमूह ने उन्हीं लोगों को फाँसी पर भी लटकवा दिया। क्या रोगस्वरूप तथा औषध-उपचार आदि के सम्बन्ध में भी बहुमत का कोई मूल्य हो सकता है? यहाँ तो प्रत्यक्ष ही है कि एक विज्ञ चिकित्सक के सामने सहस्रों अज्ञ व्यक्तियों का कुछ भी

मूल्य नहीं। असर्वज्ञता जीवों का स्वभाव है—"सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नैव कश्चन।" सभी असर्वज्ञ किसी सर्वज्ञ की अपेक्षा रखते हैं। जबतक सर्वज्ञता पूर्ण न हो, तबतक यथार्थ ज्ञान एवं उसकी वृद्धि के लिए सर्वज्ञ की अपेक्षा युक्त ही है। अतएव सर्वज्ञ परमेश्वर ही सर्व-शासक है। उनका शासन ही अकृत्रिम वचनरूप वेद हैं; क्योंकि वे अनुसंधानपूर्वक (बुद्धि-पूर्वक) नहीं बनाये गये हैं और उनका वक्ता भी सर्वज्ञ है।

यद्यपि पौरुषेय ग्रंथ के बुद्धिपूर्वक निर्माण से ही उसका महत्त्व एवं मान्यता होती है, तथापि बुद्धिपूर्वक निर्माण में बुद्धि के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से दूषित होने की आशंका रहती है। इसके विपरीत अकृत्रिम, अतएव अबुद्धिपूर्वक वाक्यों में उक्त दोषों की शंका ही नहीं रहती। फिर जब उनका वक्ता प्रथम सर्वज्ञ है, तब तो कहना ही क्या है? यद्यपि भगवान् सर्वज्ञ हैं, अतः यदि परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक भी वेद कहा हो तो भी कोई हानि नहीं; तथापि आस्तिकों का यही अभिनिवेश है कि वेदों के निर्माण में परमेश्वर का स्वातंत्र्य नहीं है।

कहा जाता है कि 'परमेश्वरके निःश्वासरूप वेदों में वैसा महत्त्व नहीं है जैसा कि गीता में; क्योंकि निःश्वास तो सुषुप्ति, स्वप्न, प्रबोध, सावधानी, असावधानी सभी दशाओं में चलते रहते हैं। किन्तु गीता का तो प्रबोध-काल में तथा सावधान एवं योग-युक्त होकर ही भगवान ने उपदेश किया है पर यह ठीक नहीं।' महाभारत-युद्ध की समाप्ति होने पर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न किया था—'भगवान्, आपने संग्राम-आरंभ के पूर्व कुछ उपदेश किया था, वह संग्राम की व्यग्रता से मुझे विस्मृत हो गया। अब कृपया मुझे उसी तत्त्व का उपदेश कीजिये।' भगवान् ने कहा—'अर्जुन! मैंने योगयुक्त होकर

तुम्हारी हितकामना से उस तत्त्व का उपदेश किया था—"स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।" अब, उस प्रकार से तो नहीं, पर संक्षेप में कुछ कहता हूं' यह कहकर भगवान् ने 'अनुगीता' का उपदेश किया है। सर्वज्ञ, तथापि योग-युक्त भगवान के मुखसरोज से निकली गीता-सुधा एक ओर और प्रबोधोन्मुख भगवान् का निःश्वासस्वरूप वेद दूसरी ओर। एक दृष्टि से गीता का ही महत्त्व वेदों की अपेक्षा अधिक ठहरता है। किन्तु विवेकियों ने भगवान् की सर्वज्ञता एवं योगयुक्तता का उपयोग वेद-शास्त्र एवं उपनिषदों के सार अन्वेषण करने में ही किया है।

अतएव उन्होंने उपनिषदों को गौ मानकर अर्जुन को वत्स एवं गोपालनंदन कृष्ण को सचमुच दोग्धा गोपाल बनाकर वेद तथा उपनिषदों के सारभूत गीतामृत को लोकोत्तर दुग्ध का रूपक दे दिया गया है। इस दृष्टि से भी गीता का महत्त्वपूर्ण सम्मान है, कारण गौ की अपेक्षा दुग्ध का, ईख की अपेक्षा उसके सर्वस्व सिता, शर्करा आदि का महत्त्व अधिक होता ही है। पुनः सर्वज्ञ एवं योग-युक्त द्वारा मथित एवं निष्कासित गीतामृत का जितना ही महत्त्व समझा जाय, उतना ही कम है। तथापि यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि वेद किसीके बुद्धिपूर्वक निर्मित नहीं हैं। इसीलिए उनका महत्त्व इतना अधिक है कि गीता की मान्यता भी वेद-मूलक होने में ही है। यद्यपि गीता सर्वज्ञ, सावधान परमेश्वर की ही कृति है, किन्तु यदि वह वेदविरुद्ध हो, तो कदापि उसकी मान्यता नहीं हो सकती। भगवान् बुद्ध परमेश्वर के ही अवतार समझे जाते हैं, किन्तु वेदविरुद्ध होने के कारण ही आस्तिकों में उनका सम्मान नहीं है।

इस तरह पुरुषों से स्वतन्त्रता ही ग्रंथों के प्रामाण्य में मूल हो जाया करती है, अतः प्रामाण्य-परीक्षण के लिए वेदों में

पुरुष-स्वातन्त्र्य का वारण बड़े प्रयत्न से किया जाता है। कहा गया है—"यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।" सर्वज्ञ परमेश्वर भी वेदों के निर्माण में स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से (सोकर जगा हुआ छात्र जिस प्रकार विगत दिवस के पाठ का, अधीत विषयों का स्मरण करता है, उसी प्रकार) परमेश्वर पूर्वकल्प की वेद-आनुपूर्वी का स्मरणकर कल्पान्तर में उपदेश करते हैं। इसीलिए परमेश्वर वेदों के स्मर्ता या वक्ता कहे जाते हैं। जैसे पुरुष निःश्वासों का निर्माता नहीं समझा जाता, वैसे ही अपने निःश्वासरूप वेदों के भी निर्माता भगवान् नहीं हैं। वे केवल उनके आविर्भाव के निमित्त हैं। समर्थ एवम् सर्वज्ञों के कोई भी कार्य अनेक उद्देश्यों के लिए होते हैं। पुराणों से परिज्ञात होता है कि बुद्धदेव परमेश्वर के अवतार ही थे। वेदों से अनधिकारियों की प्रवृत्ति हटाने के लिए यज्ञ-यागादि के व्याज से बढ़ी हुई हिंसा, मद्यपान आदि पापों का निराकरण करने के लिए ही वेद और यज्ञ आदि का उन्होंने खण्डन किया था। आस्तिकों की तो स्थिति यह है कि वे वेद के सामने वेदवेद्य भगवान् को भी नहीं मानते।

जिस प्रकार पहले से विद्यमान निःश्वास का पुरुष के बिना प्रयत्न के प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार नियत आनुपूर्वीवाले वेदों की भी निरायास उत्पत्ति होती है। पुरुषनिःश्वास बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वप्न या सुषुप्ति में जिस समय बुद्धि या उसकी क्रियाशीलता का अभाव हो जाता है, उस समय भी श्वास-प्रश्वासों का प्रवाह चलता दीखता है। ठीक इसी प्रकार वेदों के प्रादुर्भाव में भी बुद्धि का सम्बन्ध अनपेक्षित है। इसीलिए बुद्धि के गुण या दोष का भी वेद में सम्पर्क तक नहीं है। अतएव वेद निरपेक्ष रूप से ही प्रमाण हैं। पुरुष-

निःश्वास के समान जो बिना बुद्धि एवं प्रयत्न के ही अभिव्यक्त हो, वही ग्रन्थ स्वतःप्रमाण माना जा सकता है। इन्हीं भावों का सूचन "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इस श्रुति में मिलता है। इसमें वेदों को परमेश्वर का निःश्वास बतलाया है।

वेदों के विरुद्ध भगवान् की भी आज्ञा न मानना वैसी ही आस्तिक्ता है, जैसी कि गुरु की आज्ञा के विरुद्ध गोविंद की आज्ञा त्यागना। यह भगवान् का अपमान नहीं, प्रत्युत सम्मान है, कारण जीवों को वेदों तथा गुरुओं के द्वारा ही तो भगवान् का बोध होता है। यदि उनमें दृढ आस्था न होगी, तो फिर भगवान् में ही वह आस्था कितने दिनों तक टिक सकेगी? वालुका की भीत के समान वेद-शास्त्रविहीन ईश्वर-श्रद्धा को गिरते विलम्ब न लगेगा। अतः जब वेद-शास्त्रों तथा गुरुओं से ही भगवान् का अस्तित्व एवं उनकी उपादेयता ज्ञात होती है, तब उनमें अधिक दृढ़ श्रद्धा आवश्यक ही है। रामायण, भागवत, भारत आदि ग्रन्थों के ही आधार पर राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि भगवत्स्वरूपों का बोध होता है। ये न हों, तो उनकी उपादेयता को कौन कहे, अस्तित्व भी संकटग्रस्त हो जाता है। अतः जिनके द्वारा भगवान् की ख्याति और मान्यता है, उन्हें न मानना ही उनका अपमान है। शिव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षक है, पर गुरु के रुष्ट होने पर कोई भी रक्षक नहीं है—"शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।" श्रीपार्वतीजी कहती हैं—

"तजो न नारद कर उपदेशू। आप कहैं शतबार महेशू॥
गुरु के बचन प्रतीत न जेहीं। सपनेहुँ सुगति सुमति कि तेहीं॥"

वेद साक्षात् भगवान् के अवतार ही हैं, स्वरूप ही हैं। "स्वय-

मेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम"—पुरुषोत्तम भगवान् का बोध सिवा वेदों के और किसी तरह नहीं होता। "वेदो नारायणः साक्षात्", "वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः"—भागवत के इन पद्यों से भी वेद को साक्षात् भगवद्रूप कहा गया है। भगवान् भी "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ" इस गीता-वचन में 'मया' इस अंश से अपने वेदस्वरूप की ही व्यञ्जना कर रहे हैं, 'वेदरूप से मैंने प्रथम ही दो निष्ठाओं का वर्णन किया है।' इतना ही नहीं, प्रत्युत भगवान् के अस्तित्व एवं उपादेयता को प्रकाश करनेवाला वेद-स्वरूप भगवान् से भी श्रेष्ठ है।

प्रकाश्य से अधिक प्रकाशक का महत्त्व प्रसिद्ध ही है। भगवान् के स्वप्रकाश चिदंश का ही वेदरूप में प्रादुर्भाव हुआ है। यही समस्त शब्द-ब्रह्म का उत्पत्तिस्थान है। वैयाकरण इसीसे प्रपञ्च की सृष्टि मानते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

तभी वेद-मूल और वेदसारभूत प्रणव आदि भगवन्नामों का भगवान् के साथ अभेद कहा गया है। भगवन्नाम भगवान् से भी श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामीजी ने कहा है—

"राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन न थोरा॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माँहीं॥
कहहुँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई॥"

इस तरह वेद भगवान् से उद्भूत और उन्हींके स्वरूप हैं। वे उन्हींके अस्तित्व एवं उपादेयता को सिद्ध करते हैं। अतः उनके विरुद्ध भगवान् की भी बात न मानना ही आस्तिकता

एवं बुद्धिमानी है। एक बार जब भीष्मजी पिंड-प्रदान करने लगे, तो उनके पिता श्रीशन्तनुजी का हाथ स्पष्ट पिण्ड-ग्रहण के लिए व्यक्त हुआ। इसपर भीष्मजी ने वेदज्ञों से प्रश्न किया कि 'क्या श्राद्ध में हाथ पर पिण्ड-प्रदान वैध है?' ब्राह्मणों ने कहा-'नहीं, कुशाओं पर ही पिण्ड-प्रदान की शास्त्रीय विधि है।' फिर भीष्म-जी ने वैसा ही किया। श्रीशन्तनु उनकी अटल शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्न हो उन्हें आशीर्वाद देकर चले गये। इस तरह वेदों के निर्माण में किसीका स्वातन्त्र्य न होना उनके प्रमाण्य का साधक ही है और प्रयत्न एवं बुद्धिनिरपेक्ष वेदों का प्रादुर्भाव उनकी स्वाभाविकता एवं अकृत्रिमता का व्यंजक है। अतः सर्वज्ञ की समहित बुद्धि से बने हुए ग्रन्थ की भी अपेक्षा प्रयत्न एवं बुद्धि-निरपेक्ष श्वासवत् स्वाभाविक वेदों का अधिक महत्त्व है।

यही कारण है कि आस्तिकों के यहाँ गीता सर्वज्ञ, समाहित, कृष्णप्रोक्त है—इतने से ही संतोष एवं गीता का माहात्म्य नहीं है, प्रत्युत उसका महत्त्व इसीमें है कि समाहित, सर्वज्ञ श्रीकृष्ण परमात्मारूप गोपाल के द्वारा वेद-शीर्ष उपनिषद्रूप गौओं के दुग्धामृतरूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ है।

वैष्णवों के परमधन भागवत की भी महत्ता वेदरूप कल्पद्रुम के सुमधुर फल होने के ही नाते बढ़ी। श्रीमद्भागवत फल ही नहीं, मधुर एवं परिपक्व फल है। वह फल भी कल्पतरु का, जो स्वयं सर्वाभीष्टदायक है। वह कल्पवृक्ष भी साधारण भोग-दायक देवतरु नहीं, अपितु वेद-कल्पतरु है। इस कल्पतरु से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्रकार के पुरुषार्थ अनायास प्राप्त हो सकते हैं। उस अद्भुत लोकोत्तर कल्पद्रुम का सारतम, परिपक्व एवं स्वयं गलित फल श्रीमद्भागवत है। वह भी शुक-तुण्ड स्पृष्ट होने से अतिमधुर है। श्रीशुक भी प्राकृत नहीं,

परमहंस, महामुनीन्द्र-कुलतिलक एवं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी के कृपामृत से परिपुष्ट शुक हैं। उनके मुखामृत-द्रव से संस्पृष्ट यह भागवत फल है। यहाँ भी वेदसार एवं वेदज्ञ-संबद्ध होने से ही श्रीमद्भागवत का माहात्म्य बढ़ा। यही भागवत के माहात्म्य में स्पष्ट किया गया है। जैसे ईख में मधुरिमा विस्तृत है; फिर भी उसीसे निकली हुई शर्करा, सिता, कन्द आदि के माधुर्य की विचित्रता मान्य होती है, वैसे ही वेदों का ही सारसमूह होने के कारण श्रीमद्भागवत का महत्त्व विलक्षण है।

"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥"

अर्थात् 'वेदवेद्य परमात्मा जब श्रीरामरूप में प्रकट हुए' इत्यादि वचनों के अनुसार रामायण, भारत आदि समस्त आर्ष-ग्रन्थ वेद से ही महत्त्वास्पद होते हैं।

अग्नि की उष्णता और जल की द्रवता स्वाभाविक धर्म हैं। ब्रह्मा भी उनके निर्माता नहीं माने जाते। यही कारण है कि अग्नि कभी शीत और जल कभी उष्ण नहीं होता। यदि निर्माता के अधीन उनका निर्माण हो, तो स्वतंत्र होने के कारण निर्माता वैसा भी बना सकता है। इसी तरह भगवान् के निःश्वासभूत वेद स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं। भगवान् वेदों के स्मर्ता ही हैं, यह बात पराशरजी ने भी कही है—

न कश्चिद्वेदकर्ताऽस्ति वेदस्मर्ता प्रजापतिः।
तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥

वेद का एकदेश आयुर्वेद है। उसके विवेच्य विषयभूत योग्य एवं अयोग्य पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान किसी जीव को सहस्रों कल्पों में भी पूर्ण नहीं हो सकता। जब एक नगण्य के तृण

के विचित्र गुणों का सहज में ज्ञान नहीं होता, तब फिर अनन्त तृण एवं उनके अनन्त संप्रयोग-विप्रयोग और उनसे उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाली विचित्र शक्तियाँ किसी अल्पज्ञ को कैसे विदित हो सकती हैं ? एक तृण कोई लें, तो उसमें न जाने कितने रोगों को उत्पन्न और विनष्ट करने की शक्ति है। फिर दो चार औषधियों के संयोग आदि से कितनी शक्तियाँ संकुचित एवं विकसित होती हैं—यह जानना जीव के लिए अन्वय-व्यतिरेक आदि युक्तियों से सैकड़ों कल्पों में भी संभव न होगा। एक विष के ही शक्तिपरीक्षण में सहस्रों प्राणियों की हत्या हो जायगी, फिर भी ठीक-ठीक परिणाम ज्ञात नहीं होगा। इसी तरह योग्य एवं अयोग्य अनेकविध पदार्थों के ज्ञान में पुरुष की योग्यता नहीं है। अतः इन सब विषयों का जिस शास्त्र से बोध होता है, वह अपौरुषेय ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह विश्व अपने आप ही उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए परमेश्वर को ढूँढ़ना व्यर्थ है, किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि प्रपंच अपनी उत्पत्ति में स्वयं ही कारण है ? यदि हाँ, तो क्या यह विश्व अपनी उत्पत्ति के समय था या नहीं ? स्वतंत्रता विद्यमान की होती है या अविद्यमान की ? यदि सृष्टि के पहले प्रपंच का अस्तित्व हो, तो फिर सृष्टि की वार्ता ही क्या ? जब उस समय प्रपंच अविद्यमान हो, तभी सृष्टि का प्रसंग उठता है फिर उसके किसी कारण की भी आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। यदि कालाधीन नित्य निरवयव परमाणुओं के संयोग-वियोग से सृष्टि एवं प्रलय कर स्वीकार लिया जाय, तो जब काल में यह स्वातंत्र्य माना गया तो, नामान्तर से ईश्वर का ही अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया। क्योंकि परमेश्वर का सर्व-प्रथम लक्षण स्वतंत्रता ही है। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् के बिना

अन्यत्र स्वतंत्रता बन ही नहीं सकती। जो सर्वज्ञ एवं सर्वबोधक है, वही शास्त्र को कह सकता है। उसीका नित्य वचन वेद है।

कुछ लोग तो पूर्वकथनानुसार परमाणुओं या विद्युत्कणों की स्वाभाविक हलचल, संघर्ष एवं एकत्रीभवन से पृथिव्यादि-क्रम से विश्व का विकास मानते हैं, परन्तु कुछ लोग संयोग, वियोग, संघर्ष, एकभाभवन आदि के नियामक रूपमें परमेश्वर को माननेके लिए बाध्य होते हैं। क्योंकि बिना किसी सर्वनियामक के अकस्मात् विघटन या अकस्मात् संघटन कैसे संभव होगा? ऐसे लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी वेद-शास्त्र एवं वैदिक सृष्टि-क्रम को अमान्य समझते हैं। उनका कहना है कि किसी विशिष्टशक्ति परमेश्वर ने ही इन भूगोलों एवं खगोलों को बनाकर गेंद के समान फेंक दिया है। वे जिस संकल्प से, जिस वेग से फेंके गये, वैसे ही भ्रमण करते हैं; क्योंकि जब लोक में कोई भी स्थूल एवं गूढ़ पदार्थ निराधार नहीं होता, तो पृथ्वी आदि की निराधारता कैसे कही जा सकती है। अतः जैसे पार्थिव प्रपंच का आधार पृथ्वी है, वैसे ही श्रौत-क्रम के अनुसार पृथ्वी का आधार जल है। साधारण रूप से जल का आधार पृथ्वी ही देखी जाती है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट विदित होता है कि काष्ठ, नाव आदि पार्थिव पदार्थ भी जल के आश्रित हैं। इसी भावना से पृथ्वी का जल में होना संभव है। जैसे दुग्ध में ही दधिभाव होने पर कठोरता आ जाती है, वैसे ही जल में पृथ्वी-भाव आता है। उपनिषदों में भी यह दृष्टान्त आया है कि जैसे माँड़ में जमने से कठोरता हो जाती है, वैसे ही जल का ही गन्धयुक्त घनीभाव पृथ्वी है। जैसे दधि में ऊपर का अंश कठोर और नीचे का अंश द्रुत होता है, वैसे ही पृथ्वी के ऊपर का अंश कठोर है और नीचे का अंश नरम या द्रुत। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का ही परि-

गाम पृथ्वी है। जल में गुरुता या लघुता एवं पतलापन या गाढ़ापन देखा जाता है। यमुना का जल कुछ गाढ़ा एवं गङ्गा का कुछ हलका होता है। यद्यपि जल में भी गुरुता होती है, अतः वह पृथ्वी के ही आश्रित समझा जाता है, तथापि बादलों में रहनेवाले जल में कितना सूक्ष्म अंश होता है। वायु के सहारे तुषार देखे जाते हैं एवं सूर्य की किरणों के सहारे जलों का आकर्षण होता है। इसी दृष्टि से श्रौत-क्रमानुसार जल का भी तेज के सहारे रहना सिद्ध हो जाता है। वायु में तेज की मन्दता देखने से तथा वायु के गुण स्पर्श की अग्नि में अनुस्यूति होने से तेज को भी वायु के सहारे माना जा सकता है। ऐसे ही आकाश में ही वायु की हलचल हो सकती है और आकाश का शब्द गुणवायु में रहता है। इसीलिए वायु का कारण एवं आधार आकाश माना गया। कार्यों में कारण के कुछ गुणों का प्रवेश रहता है। अतः आकाश का शब्द-गुण वायु में, वायु का स्पर्श-गुण तेज में, तेज का रूप-गुण जल में और जल का रस-गुण पृथ्वी में उपलब्ध होता है। कारण के गुण कार्य में प्रविष्ट होते हैं, पर कार्य के गुण कारण में नहीं। अतएव कारण में सूक्ष्मता एवं कार्य में स्थूलता होती है। इसीलिए शब्दादि पञ्च गुणों से युक्त पृथ्वी कार्य और गन्ध-गुणरहित अतएव सूक्ष्म जल कारण है। जैसे तेज एवं आकाश में सूक्ष्मता, व्यापकता और कारणता निर्णीत है, वैसे ही जल में भी पृथ्वी की अपेक्षा व्यापकता, सूक्ष्मता एवं कारणता मानना युक्त है।

पृथ्वी में गाढ़ापन, स्थूलता तथा कठोरता है, तो जल में हलकापन एवं सूक्ष्मता है। किरणों से जिस जलीय अंश का आकर्षण होता है, उस में और अधिक सूक्ष्मता और हलकापन होता है। आकाश में यह सूक्ष्मता और बढ़ जाती है। कुछ लोग आकाश को कारण मानने में सङ्कोच करते हैं। किन्तु वे यह

ध्यान में नहीं लाते कि यदि आकाश कारण नहीं, तो उसके शब्द-गुण की वायु, तेज और जलादि में उपलब्धि कैसे हो सकती है? अतः आकाश को वायु का कारण मानना युक्त ही है। अनुभव में भी आता है कि अवकाश में हलचल और उससे उष्णता, उससे स्वेद और उस से मैल उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही आकाश से वायु आदि क्रम से सबकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोगों का कहना है 'शब्द आकाश का गुण ही नहीं, वह तो वायु का कार्य है।' किन्तु जैसे अन्यान्य वायवीय विकार त्वगिन्द्रिय से गृहीत होते हैं; वैसे ही शब्द भी त्वगिन्द्रिय से उपलब्ध होना चाहिए। पर शब्द का ग्रहण वायवीय त्वगिन्द्रिय से भिन्न आकाशीय श्रोत्रेन्द्रिय से ही होता है। प्रायः सर्वत्र ही ग्राह्य-ग्राहकभाव सजातीय में ही हुआ करता है। पार्थिव गन्ध का ग्रहण पार्थिव घ्राण से ही होता है। तेज के गुण रूप का उपलम्भ तैज नेत्रेन्द्रिय से ही होता है। इस से स्पष्ट है कि आकाशीय श्रोत्र से उपलब्ध होनेवाला शब्द आकाश का ही गुण है। अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पाँचों गुण आकाश आदि पञ्चभूतों के असाधारण समझे जाते हैं और इन्हीं पाँचो भूतों के पाँचों गुणों को जानने के लिए श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं।

स्थूल का आधार सूक्ष्म ही होता है। सूक्ष्म जल स्थूल पृथ्वी का आधार है। स्थूल जल का सूक्ष्म तेज और उसका आधार उससे भी सूक्ष्म वायु है। वायु से भी सूक्ष्म आकाश वायु का आधार है। जो जितना सूक्ष्म है, उसे उतने ही कम आधार की अपेक्षा होती है। इसी कारण सर्वापेक्षया परम सूक्ष्म, स्वप्रकाश परम तत्त्व को किसी भी आधार की अपेक्षा नहीं पड़ती। वह निराधार होता है। ऐसे ही उत्तरोत्तर आधारों में बिशेषों की कमी रहती है। अन्तिम आधार में पूर्ण स्वच्छता, सूक्ष्मता, निराधारता,

निर्विशेषता सिद्ध होती है। इस तरह सूक्ष्म व्यापक तथा स्वच्छ को कारण एवं आधार मानने से सबमें व्यापक सबसे सूक्ष्म एवं स्वच्छ, स्वप्रकाश, सत् परमार्थ तत्त्व सिद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि 'वैदिकों ने जितनी पृथ्वी और संसार का निर्णय किया है, आधुनिक वैज्ञानिकों ने उससे कहीं अधिक लोकों का पता लगाया है। रात्रि में जिन अपरिगणित ताराओं से नभोमण्डल दीप्त होता है, वे सभी लोक हैं।' किन्तु उपनिषदों और पुराणों का आशय न समझने से ही यह भ्रम फैलता है। उपनिषदों के पृथ्वी, जल आदि ऐसे व्यापक हैं कि उनमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

गन्धगुणवाला द्रव्य पृथ्वी एवं रसगुणवाला जल है। जितने भर भी गोल हैं, सभी गन्धगुण पृथ्वी के मिश्रण से बने हैं। इस तरह पृथ्वी में सबका संग्रह हो जाता है। ऐसे ही पृथ्वी से सैकड़ों गुना अधिक रसगुणवाला जल है। पुराणों में अपरिगणित या अनन्त ब्रह्माण्डों का वर्णन आता है; परन्तु उपनिषदें इसकी चर्चा नहीं करतीं। कारण यह है कि उनके मत में एक या अनेक ब्रह्माण्डों में सर्वत्र ही गन्ध-गुणवाली पृथ्वी एवं रस-गुणवाले जल को समझ लेना चाहिए। पुराणों के अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के अभिमानी और स्वामी उपनिषद् के महाविराट् हैं। पुराणों के अनन्त हिरण्यगर्भों का समष्टि उपनिषदों का महाहिरण्यगर्भ है। तारागण चाहे मेरुशृङ्ग के आधार पर हों, चाहे वायुविशेष के सहारे ही भ्रमण करते हों, पर आ जाते हैं ये सभी एक ही ब्रह्माण्ड के भीतर। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड जिस प्रकृति के गर्भ में विद्यमान हैं, वह प्रकृति ही स्वयं जिन भगवान् के समाश्रित है, वह सच्चिदानन्द परम तत्त्व अपार एवं अनन्त है। खगोल जल के सहारे या

वायु के सहारे रहें, सबका अन्तिम आधार परमेश्वर मानना ही पड़ता है।

एक मत यह भी है कि 'सभी खगोल वायु के सहारे हैं। जैसे वेगवान् वायु में वृक्ष, जल एवं बड़े-बड़े मत्स्य उड़ सकते हैं, वैसे ही महावेगवान् बलवान् वायु में ही खगोलों का भ्रमण है। पुराणों की कल्पना है कि भूधर, सागर, कानन, समस्त पृथ्वी की स्थिति दिग्गज, कूर्म, वराह, शेष आदि पर है। सर्वत्र ही जो सबका अन्तिम आधार और स्वयं निराधार हो, वही स्वयं प्रकाशमान रूप सत् परमात्मा है।

परमेश्वर का सङ्कल्प अव्याहत है। अनीश्वरवादी भी यद्यपि भूगोलों का भ्रमण मानते हैं, परन्तु वे लोग इन सब कार्यों के लिए परमेश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। उनके मतों में सभी गोलों में कोई स्वभावसिद्ध आकर्षक शक्ति है, जिसमें वे सब परस्पर आकृष्ट होकर भ्रमण करते हैं।' परन्तु यह विचार अत्यन्त तर्क-शून्य है, क्योंकि इसमें 'अन्योन्याश्रय' दोष है। परस्पर आकर्षण से स्थिति या भ्रमण नितान्त असम्भव है, अन्योन्याश्रय कार्य लोक में नहीं बनते—"अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि लोके नैव प्रकल्प्यन्ते।" चुम्बक के सहारे उसमें आकर्षित होकर लोहा रहता है, परन्तु चुम्बक लोह के सहारे नहीं टिकता। उसे अपना कोई दूसरा ही सहारा रखना पड़ता है। ईंटों के डाट बनते हैं, उनमें परस्पर के सहारे स्थित होते हुए भी सबका अन्तिम आधार भित्ति को मानना ही पड़ता है।

यदि इन गोलों में स्वतः या एक दूसरे के सहारे स्थित रहने की भिन्न शक्तियाँ मानी जायँ, तो लाघवात् एक ही ऐसी दिव्य शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर क्यों न मान लिया जाय? जिससे समस्त व्यवहार उपपन्न हो जायँ। पृथक्-पृथक् पदार्थों के भिन्न-

स्वभाव की शक्तियों को स्वतन्त्र मानने की अपेक्षा सर्वशक्तियों के अधिष्ठातृस्वरूप परमेश्वर के मानने से सरलतापूर्वक व्यवहार चल सकता है। अतः कुछ लोग ईश्वर मानकर कहते हैं कि 'उसके बनाये हुए भूगोलों एवं खगोलों की गेंद उसके सङ्कल्प से स्थित है। उसमें भी भूगोल आदि भ्रमणशील हैं और सूर्यगोल स्थिर हैं। भूगोल में प्रथम तृण आदि उत्पन्न हुए; फिर कृमि, दंश आदि; फिर पक्षी, सर्प आदि अण्डज; उसके अनन्तर मृग, व्याघ्र आदि; फिर पशु एवं मर्कटों की उत्पत्ति हुई; उसके पीछे बहुत प्रकार के बहुदेशनिवासी मनुष्य उत्पन्न हुए। उनमें भी क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई है। पूर्व-पूर्व के लोग मूर्ख थे, ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर सर्वज्ञ होंगे, तभी शास्त्र की भी सिद्धि होगी। बालक पहले अज्ञानघन होता है, उत्तरोत्तर उसमें ज्ञान की वृद्धि होती है। इसीलिए "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" यह सिद्धान्त है। अतएव उत्तरोत्तर पुरुषों के वचनों का प्रामाण्य है। पूर्व-पूर्व वेद आदि वचनों का अप्रामाण्य है।'

इन महानुभावों से प्रश्न होता है कि क्या यह आपका सिद्धान्त पूर्वजों को सम्मत है? अथवा भावी पुरुषों के लिए मान्य होगा? पूर्वजों के लिए सम्मत तो हो नहीं सकता, क्योंकि वे तो आपके मतानुसार आधुनिकों की अपेक्षा मूर्ख ही थे; फिर उन्हें इस सिद्धान्त का बोध ही कहाँ? यदि कहा जाय कि उत्तरोत्तर विवेकियों को यह सिद्धान्त सम्मत होगा, तो वह भी नहीं, क्योंकि उनकी अपेक्षा तो इस सिद्धान्त के संस्थापक मूर्ख ही ठहरेंगे। फिर इसपर विचार क्या किया जाय? जो स्वयं अपने को मूर्ख स्वीकारकर दूसरे को मूर्ख कहता है, उस से शास्त्रार्थ ही कैसा? जो दूसरों की दृष्टि में मूर्ख हो, उससे

कुछ कहा भी जाय, परन्तु जो दूसरों की दृष्टि तथा अपनी भी सम्मति से मूर्ख ही है, उसका कहना ही क्या? पूर्व के लोग तो गत ही हो चुके; अग्रिम शिष्य, विकास-क्रम के अनुसार, गुरुओं से भी अधिक विवेकी ही होंगे, तो फिर सिवा निर्माता के इस विकास-सिद्धान्त का उपयोग भी किसके लिए है?

कि प्रायः यह कहा जाता है 'कुछ पूर्वशिक्षित ज्ञान और कुछ काल द्वारा उपलब्ध ज्ञान, ये दोनों मिलकर बहुत हो जाते हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ज्ञान काल द्वारा प्राप्त हुआ है, वह यदि शिक्षित ज्ञान के अनुरूप ही है, तो फिर शिक्षित ज्ञान के अनुसारियों में मूल पुरुषों से अधिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि शिक्षित ज्ञान से विपरीत ही ज्ञान काल से प्राप्त होता है, तो शिक्षा ही व्यर्थ है। जब शिक्षित ज्ञान से विरोधी ज्ञान ही काल से प्राप्त होगा, तब शिक्षित के स्वरूप-नाश से भिन्न शिक्षा का और कोई भी फल नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि शिक्षित ज्ञान के अनुसार ही ज्ञान-विस्तार मान्य हो, तो फिर उसी परम्पराप्राप्त शिक्षा को ही तो शास्त्र कहा जाता है, क्योंकि अनादि परमपुरुष परमात्मा से ही शिक्षा माननी चाहिये। प्रथम-शिक्षा-प्रवर्त्तक सर्वज्ञ परमेश्वर ही हो सकता है और उसके अनादि शिक्षा-वचन ही वेद-शास्त्र हैं।

कुछ लोगों के मन में यह बात समाती ही नहीं है कि वेद अपौरुषेय हो सकते हैं। जब लोक में कोई भी वाक्य या ग्रन्थ बिना पुरुष की बुद्धि या प्रयत्न के नहीं बन सकते, तब यह कैसे माना जा सकता है कि पुरुष के प्रयत्न तथा बुद्धि की अपेक्षा न करके ही वेदों का प्राकट्य होता है। परन्तु थोड़े ही विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'जैसे एक कार्य होता है, वैसे ही सभी हों' यह अनिवार्य नियम नहीं है। देखते ही हैं कि घर आदि

कार्य यद्यपि हस्तपाद आदि से समन्वित शरीरी द्वारा ही होता है, तथापि अङ्कुर आदि कार्य बिना देही के प्रयत्न के ही हो जाता है। सावयव एवं सादि होने से यद्यपि अङ्कुर में कार्यता का निश्चय है, तथापि वे किसी शरीरी से उत्पन्न नहीं हैं। इसी प्रकार यद्यपि वाक्यत्व, शास्त्रत्व वेदों में भी है, तथापि पुरुष के प्रयत्न या बुद्धि की अपेक्षा उन्हें रत्ती-मात्र नहीं है। जैसे अनादि-नियामक परमेश्वर और अनादि नियम्य जीवों का होना सम्भव है, वैसे ही उनकी नियमन-पद्धति-रूप वेदों का भी अनादि होना सम्भव है। अनादि परमेश्वर के ज्ञान या निःश्वास-भूत वेदों की अनादिता में सन्देह ही किसको हो सकता है?

कुछ लोग कहते हैं कि 'शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को माननेवालों में कष्ट ही दिखाई देता है, अतः शास्त्र न मानना ही श्रेष्ठ है।' परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ शास्त्र न माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ शास्त्र माननेवालों को कष्ट है और जहाँ शास्त्र माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ उनके न मानने वालों को दुःख है। परन्तु बुद्धिमानों को तो यह सुनिश्चित है कि यथेष्ट चेष्टावाले वानर की अपेक्षा नर में यही विशेषता है कि वह शास्त्र मानता है और शास्त्रानुसार व्यवहार करता है। प्रमाणभूत चक्षु के बिना जैसे लोग सुख के भाजन नहीं होते, वैसे ही प्रमाणभूत शास्त्र के बिना भी प्राणियों को सुख नहीं होता। कहा जाता है कि लोक में तो विपरीत ही देखा जाता है। सशास्त्र दुःखी एवं अशास्त्र सुखी हैं। पर यह कहना विचार-शून्य है। तृप्ति को ही सुख कहा जाता है। पशुओं में भोजन और मनुष्यों में ज्ञान से तृप्ति होती है। ज्ञान शास्त्र से होता है। क्या ज्ञान सुख का प्रतिबन्धक है? कौन-सा ऐसा सुखपात्र है, जो प्रमाण-विहीन हो। आरण्यक पशुओं को भी तो सुख के

लिए श्रोत्र, चक्षु आदि प्रमाणों की अपेक्षा होती है। उनके वैगुण्य में वे भी दुःखी होते हैं। मनुष्य की यही विशेषता है कि उसमें पशु-साधारण प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण हैं; साथ ही शास्त्र प्रमाण अधिक है। अतएव शास्त्रज्ञ शिक्षक है और पशु उससे शिक्षा पाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यद्यपि शास्त्रज्ञ श्रेष्ठ है, तथापि शास्त्र तो दुर्लभ है। वेद में तो असम्भव बातों की भरमार है। कहीं सौ वर्ष की आयु, फिर कहीं पुराणों में सहस्र-लक्ष वर्ष की आयु मिलती है।' परन्तु यह शङ्का ही निर्मूल है। साधारण आयु सौ वर्ष की तो बतलायी ही गयी है, पाप या पुण्य की प्रबलता से उसमें न्यूनता या अधिकता भी हो सकती है। प्राण, अपान के संयम से आयु की वृद्धि एवं उनके अपव्यय से न्यूनता होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वेदों में तो व्याकरण की अशुद्धियाँ बहुत हैं, फिर वे परमेश्वर की वाणी कैसे हो सकते हैं?' परन्तु यह बात भी नहीं ठहरती, क्योंकि कृत्रिम वचनों में ही शुद्ध-अशुद्ध का विचार करना युक्त है। लता की सहजसिद्ध वक्रिमा पर कौन घृणा करता है?

पाणिनि प्रभृति कृत्रिम वचनों का शासन करते हैं, अर्थात् बतलाते हैं कि यह साधु एवं यह असाधु है। परन्तु अकृत्रिम वचन होने से वेदों के सभी शब्द साधु (शुद्ध) ही हैं। इसीलिए "छन्दसि दृष्टानुविधिः" यह सूत्र है। अकृत्रिम, सर्वज्ञ भगवान् का अकृत्रिम वचन ही वेद है। कृत्रिम कार्य-कारण-सङ्घात के अभिमानी समस्त मनुष्यों को अवश्य ही वेदों का अर्थज्ञान और सम्मान करना चाहिए।

यह भी कहा जाता है कि 'जब निराकार परमेश्वर को मुख ही नहीं, तो उसे वेदों का निर्माता और कर्ता

कैसे माना जाय?' परन्तु यह कथन तो तब सङ्गत होता, जब कि ईश्वर भी जीवों के समान ही अल्पज्ञ होते। जब परस्पर अत्यन्त विलक्षण अनन्त प्रपञ्च के निर्माता भगवान् हैं, तब विचार करने पर वे भी सबसे विलक्षण सिद्ध होते हैं, फिर वे क्या नहीं कर सकते? कहा जा सकता है कि फिर ऐसा परमेश्वर दीखता क्यों नहीं? परन्तु उत्तर स्पष्ट है कि वह सर्वविलक्षण है, इसीसे नहीं दीखता। प्रश्न होता है, तो क्या वह किसीको भी दीखता है? समाधान यह है कि प्रमाता और प्रमाण के योग से प्रमेय का बोध अवश्य ही होता है।

वेदों का स्वतः-प्रामाण्य : २ :

कुछ लोगों का कहना है कि 'शब्द और अर्थ के सङ्केतरूप सम्बन्ध की कल्पना शब्द और अर्थ की सृष्टि के बाद ही हुई, चाहे वह कल्पना परमेश्वर ने की हो, या किसी जीव ने। अर्थतत्त्वज्ञानपूर्वक जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी-को प्रामाणिक जन प्रमाण मानते हैं। ऐसे ही एवं शब्द-प्रयोग-कर्ता के ज्ञान-प्रामाण्य के अधीन शब्द का प्रामाण्य होता है।

पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, लोभ, विप्रलिप्सा आदि दोष होते ही हैं, अतः उनके वाक्यों के इन दोषों से दूषित होने की सम्भावना रहती है। फिर भी लोक में प्रमाणान्तरों से पुष्ट होने पर उसकी प्रामाणिकता हो भी सकती है। जैसे किसीने कहा कि 'अमुक वाटिका में शेर के बच्चे जिलाये हैं', तो सुननेवाला जाकर देख सकता है और ठीक होने पर ऐसे वाक्य को प्रामाणिक भी कह सकता है।

वेद तो प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि की सम्भावना ही नहीं। ऐसी अवस्था में उनकी प्रामाणिकता कैसे हो सकती है? कहानी सरीखे वाक्यों का प्रामाण्य ही क्या है? अतः बहुत सम्भव है कि वक्ता के भ्रम आदि दोषों से वेद अप्रामाणिक हों।

महर्षि जैमिनि ने "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणम् बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" इस सूत्र से उक्त समस्त शङ्काओं का उन्मूलन कर दिया है।

वेद किसी समय नवीन नहीं उत्पन्न हुआ, वह नित्य है। यद्यपि स्वर्ग आदि पदार्थ अनित्य ही हैं, तथापि स्वर्गत्व आदि जातियाँ नित्य हैं और उनमें ही शब्दों की शक्ति है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थों से नित्य सम्बन्ध है, किसीका कल्पित नहीं है।

कहा जाता है कि 'सृष्टिकाल में ईश्वर ही भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध-बोध कराता है। परन्तु निराकार ईश्वर किस तरह सम्बन्ध-बोध करा सकता है? यदि लीला-विग्रह धारण करके ईश्वर सम्बन्ध-बोध कराये, तो भी उसे सम्बन्ध-बोध कराने के लिए अवश्य ही कुछ ऐसे शब्दों की आवश्यकता होगी, जिनका अर्थसम्बन्ध लोग पहले से ही जानते हों। ईश्वर इङ्गित या अभिनय से सम्बन्ध-बोध करा देगा, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इङ्गित या अभिनय सीमित होते हैं और शब्द अनन्त हैं। जिस शब्द-वारिधि का इन्द्र आदि ने भी अन्त न पाया, उसके सम्बन्धबोधनार्थ अनन्त अभिनय चाहिए। परन्तु यह सम्भव नहीं है। यदि सम्बन्ध-बोधनार्थं कुछ शब्दार्थसम्बन्धों को नित्य मानना ही है, तो सभी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य ही क्यों न माना जाय?

गोशब्द और गौ अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से ही चला आ रहा है, यही मानना ठीक है। जिन नवीन अर्थों का नवीन नामकरण विदित हो रहा है, उनको भले ही कृत्रिम मान लिया जाय। परन्तु जिन के सम्बन्ध का काल और कर्ता प्रमाण-सिद्ध नहीं है, उनको अनादि मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वेद के विधि-वाक्य उन्हीं अर्थों का बोधन करते हैं, जो दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से जाने नहीं जा सकते। जैसे धर्म, स्वर्ग आदि। लौकिक-वाक्य, पुरुषाश्रित भ्रमादि दूषणों से दूषित होने के कारण अप्रामाणिक भी हो सकते हैं, परन्तु वैदिक विधि-वाक्य सर्वथा प्रामाणिक ही होते हैं। कारण यह है कि वे अपने अर्थबोधन में दूसरे प्रमाणों तथा वक्ता के ज्ञान-प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं करते; अतः स्वतःप्रमाण नित्य हैं। लौकिक वाक्यों के समान उनका कोई भी निर्माता नहीं है। यही कारण है कि निर्माता के दोषों से वेदों के अप्रमाण होने की शङ्का ही नहीं हो सकती। यही मत भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य जैमिनि का है।

वाक्यों के प्रमाण न होने में दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो निर्माता के भ्रम आदि दोष और दूसरा वाक्यार्थ में प्रबल प्रमाण से वाक्य का निश्चय। वेद नित्य हैं, नित्य पदार्थ निर्मित नहीं होते। जो निर्मित नहीं, उसमें निर्माता का दोष कहाँ से आयेगा ? दूसरी बात यह है कि वेदोक्त अर्थ दूसरे प्रमाण का विषय ही नहीं है, अतः उसका बाध अर्थात् मिथ्यात्वनिश्चय नहीं हो सकता।

अबोधकता भी अप्रामाण्य का एक कारण है। यथा—"जर-द्गव, कम्बल और पादुकाओं से द्वार पर बैठा हुआ भद्रगीत गाता

है। उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन्! रुमा में नमक का क्या अर्थ है—"जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थितो गायति भद्रकाणि। तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लवणस्य कोऽर्थः॥" ऐसे अर्थ-हीन वाक्य भी अप्रमाण हैं। पर वेदों में ऐसी अबोधकता भी नहीं है। यह सन्देह भी किया जाता है कि जब अभ्युदय और निःश्रेयस् का साधन धर्म है और धर्म भी अनुष्ठान के द्वारा ही स्वर्गादि अभ्युदय का साधन होता है और अनुष्ठान (भावना) का ज्ञान प्रत्येक क्रियापद से हो जाता है जो सभी वाक्यों में होते हैं, क्योंकि बिना क्रिया-पद के वाक्य की पूर्ति नहीं होती; तब बिना प्रेरणा, आज्ञा (विधि) के भी अन्य क्रिया-पदों से ईप्सित ज्ञान हो सकता है। जैसे—'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग होता है' ऐसे क्रियापद वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, स्वर्ग आदि अभ्युदय के साधन हैं, फिर वाक्य में विधि की क्या आवश्यकता है?

यदि कहा जाय कि धर्म में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिए 'यजेत' 'जुहुयात्' (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि-वाक्य की आवश्यकता पड़ती है, सो भी ठीक नहीं। बिना यागादि-धर्म में रुचि हुए विधि-वाक्य पुरुष को बलात्कार से यागादि में प्रवृत्त नहीं कर सकते। अन्य वाक्यों की भाँति विधि का भी इतना ही कार्य है कि 'याग स्वर्ग का साधन है, अतः करना चाहिये' इस बात का बोध करा दे। ऐसे ज्ञान से यदि पुरुष की याग करने की इच्छा होती है, तभी वह याग में प्रवृत्त होता है। यदि ये सभी कार्य विधि-व्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) उक्त वाक्यों से भी हों, तो फिर विधि की क्या आवश्यकता है।

यदि कहा जाय कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि-

निवृत्ति-सिद्धि के लिए विधि-वाक्य अपेक्षित हैं, सो भी ठीक नहीं। ये सब कार्य प्रतिषेध-बोधक 'न' से हो जायँगे। 'ब्राह्मण-वध अनिष्ट का साधन है, 'नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होने पर भी निवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब अग्निहोत्र आदि धर्म को वैदिक-वाक्य-बोधित अर्थ कहने में क्या हानि है?

बात यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो तो यह अर्थ करना होगा कि "स्वर्गकामनावाला यज्ञ करता है"। अर्थात् अनुष्ठानरूप भावना का साध्य कार्य याग हुआ और वह याग परिश्रम और द्रव्य-साध्य होने के कारण दुःखरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि विधियुक्त वाक्य होगा, तो विधि से प्रेरणा का बोध होगा और प्रेरणा से प्रयत्न-रूपी भावना पुरुष से उत्पन्न होगी। वह भावना दुःखात्मक याग को छोड़कर ईप्सित सुखमय स्वर्ग को ही अपना लक्ष्य बनायेगी।

वह याग जब साधन-रूप से भावना के साथ सम्बद्ध होता है, तब विधिवाक्य का यह अर्थ हो जाता है कि याग से स्वर्ग को उत्पन्न करो। ऐसी स्थिति में 'यह भावना स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली है' ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस भाँति याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है, क्योंकि विधि से ही याग में स्वर्ग-साधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है, तभी विधिवाक्य धर्म में प्रमाण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त सूत्र में 'अनुपलब्धेऽर्थे' इस अंश से यह विवक्षित है कि अस्मरण अनुभव से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक है, अतः स्मरण

स्वतःप्रमाण नहीं है। परन्तु यह विधिवाक्य उस प्रकार का नहीं है, किन्तु जो अर्थ प्रमाणान्तर से अविज्ञात है उस अर्थ का ग्राहक होने से स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है।

ये ही विधि-वाक्य, उसका अर्थभाग भावना आदि और उसका मूल स्वर्ग आदि यदि कोई वस्तु हों, तभी वेद के विधिभाग धर्म आदि में प्रमाण हो सकते हैं। यदि ये सब मिथ्या हैं, तो विधि का प्रामाण्य सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से बौद्धों के निरालम्बनवाद का भी शबरस्वामी ने खण्डन किया है।

विधि-वाक्यों की धर्म में प्रामाण्य-सिद्धि के लिए स्फोटवाद का भी वार्तिककार ने खण्डन किया है, क्योंकि अर्थावबोध स्फोट से भी उत्पन्न हो सकता था, फिर मन्त्रों में पदादि का ऊह कैसे बन सकता? एक देवता के मन्त्र से जब अन्य देवता का कार्य यागों में किया जाता है, तो पूर्व देवता का नाम छोड़कर उसी मन्त्र में दूसरे देवता का नाम जोड़ लिया जाता है। मन्त्र जैसा का तैसा ही रहता है। इसी नाम बदलने को 'ऊह' कहते हैं।

"अग्नये त्वा जुष्टं चरुं निर्वपामि" इस मन्त्र का सौरयाग में विनियोग होने से 'अग्नये' इस पद के स्थान में 'सूर्याय' पद जोड़ा जाता है।

इस प्रकार घट आदि अर्थ के अनित्य होने से घट आदि शब्दों का अर्थ अनित्य ही होगा, तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के अनन्तर किसीने शब्दों और अर्थों का सङ्केत किया होगा और वैदिक शब्दों को भी उस सङ्केत करनेवाले पुरुष की अपेक्षा होगी। अतः वेद का अनपेक्षत्व-रूप स्वतः-प्रामाण्य बाधित होगा, अतः घटत्वादि रूप जाति को नित्य मानकर वही घटादि शब्दों का अर्थ है—यह निश्चित किया गया है।

इस तरह नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ स्वाभाविक

सम्बन्ध है, वह कृत्रिम नहीं है। अतः सङ्केतकार की अपेक्षा न होने से वेदों का स्वतःप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। जाति ही मीमांसकों की आकृति है। बौद्ध लोग जाति-पदार्थ नहीं मानते हैं। बौद्ध अन्यापोहरूप ही जाति मानते हैं। इसीलिए अपोह-वाद का भी निरास करके जाति को भावरूप कहा गया है।

बौद्धमत में घटादि-पदार्थ परमाणु-पुञ्जमात्र ही है। जैसे, वन वृक्ष-समुदाय से अलग नहीं होता, वैसे ही अवयवों से पृथक् अवयवी भी नहीं होता। इस मत का खण्डन करके कहा गया है कि यदि परमाणुओं का समुदाय ही घट हो, तो परमाणु के अप्रत्यक्ष होने से घट आदि को भी अप्रत्यक्ष ही कहना पड़ेगा। फिर इस प्रकार व्यवहार का चलना ही अस-म्भव हो जायगा। इतना ही नहीं, शब्दों का इन अदृश्य अर्थों में सङ्केत-ग्रह कैसे होगा? इस प्रकार शब्द का प्रामाण्य-वाद ही बाधित हो जायगा। इसीलिए वनादि दृष्टान्त से वैषम्य दिखलाकर वनवाद-प्रकरण में वार्त्तिककार ने घट आदि रूप अवयवी सिद्ध किया है। ईश्वरेच्छारूप सङ्केतवाले पक्ष में भी वेद-प्रामाण्य सन्दिग्ध हो सकता था, इसीलिए वेदकार स्वरूप से ईश्वर का निराकरण किया गया।

इसी तरह चित्रादि यागों के फल पशु, वृष्टि आदि प्रत्यक्ष ही हैं। कभी चित्रादि याग करने पर भी पशु आदि फल नहीं मिलते। अतः ऐसी विधियों का प्रामाण्य बाधित होगा—इस शङ्का का समाधान चित्राक्षेपपरिहार-प्रकरण में कर्तृ-क्रिया-वैगुण्य आदि के द्वारा किया गया है। इसी तरह "स एवं यज्ञा-युधी आत्मा अञ्जसा स्वर्गं लोकं याति" इत्यादि वचनों से मालूम पड़ता है कि यज्ञायुधवाला यजमान स्वर्ग जाता। है परन्तु यजमान को यहीं जल जाना है। इस तरह एक वैदिक वाक्य

के अप्रामाण्य होने से उसके साम्य से सभी वेद का अप्रामाण्य हो सकता है। इसका समाधान देहादि से भिन्न आत्मा सिद्ध करके किया गया है।

इसी भाँति 'अनपेक्षत्वात्' इस अंश में भी दो बातें विवक्षित हैं। एक तो यह कि ज्ञानों की प्रमाणता स्वतः ही है, कारण यह बात गुण या संवाद से नहीं है। अर्थ के अनुसार ही प्रमाणों का प्रामाण्य होता है। प्रमाण अपने विषय के साथ उसकी प्रमाणता को भी ग्रहण कर लेता है और अर्थप्रामाण्य के अधीन ही प्रामाण्यव्यवहार होता है। अप्रमाणता स्वतः नहीं, किन्तु परतः है; क्यों कि अर्थान्यथात्व ही अप्रामाण्य है और वह बाधकज्ञान, कारणदोषज्ञान और विसंवादज्ञान से ही गृहीत होता है। जैसे रज्जु में सर्पज्ञान का अप्रामाण्य दीपकादिसापेक्ष रज्जुज्ञान आदि से ही होता है।

दूसरी बात यह है कि लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य वक्ताओं के यथार्थ ज्ञान के अधीन होता है, अतः लौकिक वाक्यों में किसीका प्रामाण्य और किसीका अप्रामाण्य भी हुआ करता है। पर वेदों का कोई कर्ता नहीं है, अतः उनमें वक्ता के अज्ञान आदि दोषों से अप्रमाणता की शङ्का भी करना युक्त नहीं है।

साङ्ख्य-योग के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः-मान्य होता है, क्योंकि जो सामर्थ्य जिसमें स्वाभाविक नहीं है, वह अन्य से नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि 'उनके अनुसार वेद का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वाभाविक होंगे। फिर दोनों में से किसी एक का निर्णय न होने से वेद का अप्रामाण्य ही ठहरेगा।' पर यह कथन ठीक नहीं। साङ्ख्य आदि दार्शनिकों के अनुसार गुड़ में मिष्टता के तुल्य वेद में प्रामाण्य स्वाभाविक है। अनादिशिष्ट

परम्परा से परिगृहीत होने के कारण प्रामाण्यग्रह सुकर है। शिष्ट-परम्परा से वेद में अप्रामाण्य वैसे ही अगृहीत है, जैसे गुड़ में तिक्तता। अतः शिष्ट-परिग्रह से अप्रामाण्य प्रत्याख्यात है।

यदि कहा जाय कि 'वेद के स्वाभाविक प्रामाण्य में क्या प्रमाण है ?' तो उत्तर यही होगा कि स्वभाव पर आक्षेप वैसेही नहीं हो सकता, जैसे गुड़ की स्वाभाविक मधुरता पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जैसे गुड़ की मधुरता अनादि-प्रत्यक्ष-परम्परा से मान्य है, वैसे ही वेद का प्रामाण्य भी अनादि शिष्टपरम्परा से निश्चित है। जैसे, गुड़ की तिक्तता कोई नहीं मानता है, वैसे ही वेद की अप्रामाणिकता भी अनादि शिष्ट-परम्परा की स्वीकृति के विरुद्ध है। मानवधर्मशास्त्र की प्रवृत्ति 'आसीदिदं तमोभूतम्' इत्यादि पद्यों से साङ्ख्य या वेदान्त मत के अनुसार है। मनु वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानते हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं ज्ञात होते। बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रमाण एवं अप्रमाण। कारणों के गुणानुसार ज्ञान में यथार्थतारूप प्रमाणता होती है। कारणों के दोषानुसार यथार्थतारूप अप्रामाणिकता होती है। अर्थात् जिस ज्ञान के कारण रोगादि दोषों से दूषित होते हैं, वह अप्रमाण होता है।

कहा जा सकता है कि 'इस मत के अनुसार वेद पौरुषेय या ईश्वरनिर्मित हैं;—पुरुषों में भ्रम-प्रमाद आदि दोष होते ही हैं। फिर वेद से उत्पन्न ज्ञान में वेदकार पुरुष के दोष से अप्रमाणता ही होगी।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भ्रम आदि दोष जीवों के ही स्वाभाविक हैं, ईश्वर के नहीं।

उक्त मत में परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि नित्य

होते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। जगदीश्वर ही वेद के कर्ता हैं, तो फिर वेद की प्रमाणता में सन्देह ही कैसे हो सकता है? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'श्रद्धा, विश्वास को छोड़कर ईश्वर में क्या प्रमाण है, क्योंकि इस समय उक्त प्रकार का कोई सर्वज्ञ पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता है। अनुमान से भी वैसे पुरुष की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा करने में अन्योन्याश्रय दोष है। यदि कोई सर्वज्ञ सिद्ध होगा, तो उसके वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होगा और यदि वाक्य की प्रामाणिकता सिद्ध होगी, तभी उसके आधार पर सर्वज्ञ पुरुष सिद्ध होगा। अन्य पुरुषों के वाक्य पुरुषाश्रित भ्रम आदि दोषों से दूषित होंगे ही। यदि किसी नित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करें, तब तो वैसे वेद को भी नित्य माना जा सकता है। फिर वेदकार की कल्पना ही व्यर्थ है। यदि परमेश्वर सर्वज्ञ हो, तो भी उनको कोई सर्वज्ञ ही समझ सकता है। कारण यह है कि जो सब विषय को नहीं जानेगा, वह सर्वज्ञता भी कैसे जान सकेगा? जो पुरुष घट को जानता है, वह घटज्ञ को जान सकता है। इसी प्रकार जो सर्वको जानेगा, वही सर्वज्ञ को जान सकेगा। इस तरह सर्वज्ञों की परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और अनवस्था-भय से सर्वज्ञता भी समाप्त मानी जायगी। यदि ईश्वर की सर्वज्ञता जानने के लिए अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करें, तो उसकी सर्वज्ञता जानने के लिए अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता अज्ञात रहेगी, क्योंकि जो भी उस का सर्वज्ञता जानेगा, उस सर्वज्ञ ही कहना पड़ेगा। यदि वह अन्तिम सर्वज्ञ नहीं, तो उसीके समान पूर्व-पूर्व पुरुषों की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। फिर मूलपुरुष ईश्वर की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं

हुई, तो उस से निर्मित वेदों का प्रामाण्य भी कैसे होगा? यदि श्रद्धामात्र से कोई सर्वज्ञ मानता है, तब तो फिर बुद्ध ने क्या अपराध किया है जो वे सर्वज्ञ न माने जायँ? यही बात वार्तिक-कार ने भी कही है—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्ध्यते ॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च योनैव स्यान्न तं प्रति ।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥

इन सब बातों का उत्तर नैयायिकों की ओर से दिया जा सकता है कि उक्त आपत्तियों से एक-एक वस्तु का पृथक्-पृथक् ज्ञान-रूप सर्वज्ञता न भी कहीं हो, तो भी कोई हर्ज नहीं। कारण यह है कि कीट-पतङ्ग आदि के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है, परन्तु तत्त्वज्ञता, धर्मज्ञता तो ईश्वर में है ही।

"कोटिसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ।
सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यति ॥"

फिर भी कहा जा सकता है कि जिस युक्ति से सर्वज्ञता का खण्डन हुआ, उसी तरह अतीन्द्रियार्थदर्शिता का भी खण्डन हो सकता है। तत्त्व एवं धर्म का स्वरूप चर्मचक्षुओं के लिए दुर्ग्राह्य है ही। फिर जो स्वयं धर्मज्ञ या तत्त्वज्ञ नहीं है, वह ईश्वर की धर्मज्ञता को भी कैसे जानेगा? इन्हीं युक्तियों से बुद्ध आदि आगमों की भी प्रामाणिकता खण्डित हो जाती है। भला, जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु के डूबने का प्रश्न ही क्या है?

यदि नैयायिक वेदों को अपौरुषेय मानता है, तो प्रथम

उसके सिद्धान्त की हानि हुई। दूसरे अपौरुषेय होने के कारण वेद का वक्ता न होने से वक्ता के गुण के आधार पर वेदों का प्रामाण्य भी नहीं सिद्ध होगा।'

उपर्युक्त सारा वक्तव्य युक्तियुक्त नहीं है। जब अल्पज्ञ एवं आप्तजन से प्रणीत लौकिक वाक्य का भी प्रामाण्य मान्य होता है, तो समस्त आप्तों में शिरोमणि, नित्य, सर्वज्ञ भगवान् से प्रणीत वेद में तो कैमुतिक न्याय से ही प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञता की सिद्धि 'न्यायकुसुमाञ्जलि', 'बौद्धधिक्कार' आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से है। यदि आकाश आदि की तरह वेद ईश्वर-प्रणीत न भी हों, तो भी वदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पड़ती है, यह आगे कहा जायगा है। यहाँ तो केवल प्रामाण्य पर विचार चल रहा है, ईश्वर या उसकी सर्वज्ञता के खण्डन-मण्डन का यहाँ अवसर नहीं है। इस पर अत्यन्त पर्याप्त विचार किया गया है। हरएक व्यक्ति अपनी अपेक्षा अपने शिक्षक की बहुज्ञता का अनुमान करके ही उससे शिक्षा-ग्रहण करता है। यदि वह भी शिक्षक की बहुज्ञता को न जाने, तो शिक्षा लेने में प्रवृत्त ही क्यों होगा? यदि वह शिक्षक की बहुज्ञता को जान लेने से ही बहुज्ञ हो गया, तो फिर शिक्षा-ग्रहण में प्रवृत्त क्यों होगा? इस प्रकार सर्वज्ञता के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा-सुना जा सकता है।

बौद्धमत में ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है, परन्तु प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं हो सकते। बिना किसी अन्य कारण की अपेक्षा किये ज्ञान का अन्धकार-प्रकाश के तुल्य परस्पर विरुद्ध प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों नहीं हो सकते। जैसे वह्नि में शैत्य एवं औष्ण्य दोनों नहीं माने जा सकते, वैसे ही ज्ञान में

प्रामाण्य-अप्रमाण्य दोनों ही स्वतः नहीं कहे जा सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी खास ज्ञान का प्रामाण्य माना जाय और किसी खास का अप्रामाण्य, क्योंकि जब दोनों व्यक्तियों में ज्ञानत्व से भिन्न (अन्योन्यव्यावृत्त) कोई रूप उपलब्ध नहीं होता; तब फिर कैसे कहा जाय कि एक ज्ञान प्रमाण है और दूसरा अप्रमाण। यदि किसी अन्य कारण से ऐसा होता, तब तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अतएव ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य एवं स्वतः-अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। स्वभाव या तो आकाश के व्यापकत्व का सा नित्य होता है अथवा जल की शीतलता एवं अग्नि की उष्णता के तुल्य। यह तत्त्व जिसमें रहता है उसीके कारण से उत्पन्न होता है। ज्ञानत्व रूप धर्म तो प्रमाण, अप्रमाण—दोनों ही तरह के ज्ञानों में रहता है, अतः ज्ञानत्व के आधार पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की व्यवस्था नहीं हो सकती। एक ही ज्ञान में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही मानने से साङ्कर्य दोष भी होगा।

'प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य'—दोनों ही परतः होंगे—न्याय-दर्शन का यह मत भी ठीक नहीं। इस तरह तो ज्ञान को निःस्वभाव ही मानना पड़ेगा। यहाँ विकल्प होगा कि उत्पन्न ज्ञान गुण-दोष-निर्णय के पहले किसी विषय का प्रकाश करता है या नहीं करता? यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तब तो ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। यदि द्वितीय विकल्प माना जाय, तब अप्रामाण्य ही स्वतः हुआ। यदि प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों को ही गुण-दोष के पराधीन कहा जाय, तब तो गुण-दोष-निर्णय के पहले अनवधारणात्मक अथवा निःस्वभाव ही ज्ञान ठहरेगा। विचार करने पर यह बात जँचती नहीं। यह हो

नहीं सकता कि ज्ञान अर्थ का निर्धारण न करे। 'ज्ञान निर्विषय होता है' यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। बात यह है कि ज्ञान, इच्छा आदि न्याय-मत में कभी निर्विषय नहीं हो सकते। अतः बौद्ध कहता है कि अप्रामाण्य और कुछ नहीं, बल्कि प्रामाण्याभाव ही है। अभाव अवस्तु ही होता है। वह दोष आदि किसीसे उत्पन्न नहीं होता। इसलिए दोष के आधार पर अप्रामाण्य का निर्णय नहीं होता। इसलिए अप्रामाण्य स्वतः होता है, प्रामाण्य परतः होता है, क्योंकि वह वस्तु है। वह गुण-जन्य होता है, अतः गुण-निर्णय के अधीन ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय होता है। इसके अतिरिक्त सर्प का ज्ञान कभी सर्प से होता है और कभी असर्पभूत रस्सी से भी सर्प का ज्ञान हो जाता है। अतः ज्ञानत्व-मात्र से उसके प्रामाण्य का निर्णय नहीं हो सकता। अतः गुण-संवाद, ज्ञानान्तरसङ्गति अर्थक्रिया में से किसी एक के ज्ञान से ही ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता निर्णीत हो सकती है। इसीलिए प्रामाण्य परतः ही होता है, स्वतः कभी नहीं होता। यदि ज्ञान की प्रामाणिकता स्वाभाविक हो, तो स्वप्नादि ज्ञानों की भी प्रमाणता ही माननी पड़ेगी।

यह कहना भी ठीक नहीं। स्वप्नादि-ज्ञान की अप्रामाणिकता कारण-दोष से निश्चित होती है, क्योंकि अप्रामाणिकता, अभाव-रूप होने से किसीका कार्य नहीं। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धमत में तो फिर सभी ज्ञानों का स्वाभाविक ही अप्रामाण्य होगा। इस तरह कोई भी ज्ञान प्रमाण न ठहरेगा। परन्तु यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत में सभी ज्ञानों का स्वाभाविक अप्रामाण्य ही होता है, किन्तु प्रामाण्य उसका अपवाद होता है।